''वैदिक कालीन नैतिक एवम् मूल्य शिक्षा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता : एक समीक्षात्मक अध्ययन''

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की शिक्षा विषय में ''डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी'' की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध

जुलाई – 2005

शोधकर्त्री

श्रीमती श्रुति आनन्द
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

पर्यवेक्षक

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता
प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष शिक्षा विभाग
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
एवम्
पूर्व निदेशक – पत्राचार संस्थान,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

सह–पर्यवेक्षक

प्रो0 डी0एस0 श्रीवास्तव
अध्यक्ष, डीन एवम् निदेशक शिक्षा विभाग
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी

समर्पण

परमपूज्य

अम्मा-बाबूजी,

चाची एवं चाचा जी

को

सादर समर्पित

श्रुति आनन्द

पर्यवेक्षक
प्रो. एस.पी. गुप्ता
प्रो. एवं अध्यक्ष शिक्षा विभाग
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दूरभाष : 0532-2250623 (R)
0532-2621840 (O)
0532-2607775 (O)

जुलाई, 2005
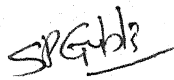
प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोधकर्त्री श्रीमती श्रुति आनन्द, बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से अपना अनुसंधान कार्य **''वैदिक कालीन नैतिक एवं मूल्य शिक्षा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता : एक समीक्षात्मक अध्ययन''** शोध शीर्षक पर मेरे तथा सह-पर्यवेक्षक प्रो. डी.एस. श्रीवास्तव के मार्गदर्शन में पूर्ण किया है। हम यह भी प्रमाणित करते हैं कि :-

- कार्य मौलिक है।
- आपने शोध प्रस्तुत करने हेतु न्यूनतम निर्धारित अवधि पूर्ण कर लिया है।
- आपके ऊपर बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी का कुछ भी देय अवशेष नहीं है।
- हमने उक्त प्रबन्ध शोध समिति के निर्देशानुसार ही पूर्ण कराया है।

अतएव उपरोक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में हम इस शोध-प्रबन्ध के मूल्यांकन की प्रबल संस्तुति एवम् अनुशंसा करते हैं तथा शोधार्थी के मंगलमय् भविष्य की कामना करते हैं।

प्रो. डी.एस. श्रीवास्तव
सह-पर्यवेक्षक

प्रो. एस.पी. गुप्ता
पर्यवेक्षक

पुरोवाक्

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध वेद कालीन नैतिक एवम् मूल्य शिक्षा की आधुनिक काल में प्रासंगिकता से सम्बन्धित है। वैदिक वाड्गम को आधार बनाकर कार्य करना अत्यन्त रोचक तथा चित्ताकर्षक है। यद्यपि उसके साथ एक कठिनाई भी है। वैदिक संहिताओं की तिथि का निर्धारण एक दुष्कर कार्य है क्योंकि वेदों में कतिपय उल्लेख अत्यन्त प्राचीनतर स्तर के सम्बोधक हैं तो कतिपय अत्यन्त नवीनतर। सन्दर्भो की समीक्षा एवम् मीमांसा के बाद भी अनेक स्तरों पर यह कठिनायी सामने आती है कि इनका स्तरीकरण कैसे किया जाये अथवा इन्हें तैथिक अनुक्रम के खॉके में कैसे व्यवस्थित किया जाये। यद्यपि इसके अनेक प्रयास हुए हैं जिनके आधार पर हम ऐतिहासिक निष्कर्ष की ओर अग्रसर होते हैं।

मूल्य एवं नैतिक शिक्षा के ऊपर यद्यपि बहुतेरे कार्य सम्पादित हुए है जिनका शोध क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान है। वेद कालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा के बारे में भी कार्य सम्पादित हुए है परन्तु सम्पूर्ण वैदिक शिक्षा का स्वरूप ही मूल्याधारित था एवं जिस परिसीमा में अपने गहन विस्तार के साथ प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बन्धित समस्याओं को उठाने तथा उसके निराकरण का जो लघु प्रयास यहाँ हुआ है वह कतिपय नवीन अवश्य है। वैदिक शिक्षा को उसकी समग्रता में मूल्य और नैतिकता से बंधे हुए देखना तथा अत्याधुनिक युग में भी वे चिरन्तन मूल्य काल बाध्य नहीं हो सके हैं वरन् अपनी अर्थवत्ता के साथ विद्यमान हैं और आज भी समाज को दिशा देने में सक्षम हैं प्रस्तुत प्रबन्ध में इस स्वरूप का प्रकटीकरण विद्वानों को विशेष रूप से आकृष्ट अवश्य करेगा।

मूल्य को उसके विभिन्न रूपों में देखना एक विशेष अनुभव प्रदान करता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मूल्य की इयत्ता, उसके स्वरूप का निर्धारण, मूल्य का मूल्यांकन, मूल्य की आवश्यकता, मूल्य की उत्पत्ति, मूल्य की उपादेयता, मूल्य चेतना तथा मूल्य बोध में अन्तर मूल्यों का विकास, नैतिकता के मानदण्ड, वैदिक नैतिक आदर्श एवं उसका प्रकटीकरण तथा वैदिक शिक्षा व्यवस्था में इनका प्रयोजन इत्यादि पर कुछ पारम्परिक तथा कुछ नवीन तरीके से सोचना और दोनों के मध्य एक सम्बन्ध की स्थापना की विवेचना ने शोधार्थी के अन्दर नवीन उत्साह का सृजन किया तथा कुछ मौलिक तरीके से सोचने को भी बाध्य किया। मूल्य स्थानीय हो या सार्वकालिक, देशिक हो या अन्तर्देशिक, व्यक्तिगत हो या सामाजिक इस द्वन्द्व को भी प्रस्तुत प्रबन्ध में उकारने का प्रयास किया गया है। मूल्य बोध की अचेतनता के कारण कितनी सामाजिक विसंगति पैदा हो जाती है और प्रस्थापित मूल्यों के अनुपालन से कैसे सामाजिक सन्तुलन स्थापित हो जाता है – ऐसे अनेक प्रश्नों को मूल्य दर्शन और मूल्य शिक्षा की परिधि में गम्भीरता से देखने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कुल आठ अध्यायायें में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विषय की पृष्ठभूमि, समस्या की उत्पत्ति, शीर्षक, शोध कार्य की परिसीमा, शोधकार्य की आवश्यकता, उद्देश्य एवं व्यापक सन्दर्भो में इसकी उपयोगिता को मीमांसित करने का प्रयास किया गया है।

प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में मूल्य की उत्पत्ति, मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा, मूल्य का विस्तार एवं उसके विविध आयामों की चर्चा की गयी है। मूल्य क्या शुभ एवं अशुभ के द्वन्द्व से उत्पन्न हुआ इस विषय का भी स्पर्श किया गया

है। मूल्य–बोध, मूल्य–चेतना, मूल्य का प्रत्यय, मूल्य के विविध प्रकार, मूल्य का वर्गीकरण, युगीन मूल्य और सार्वदेशिक मूल्य एवं वैदिक शिक्षा का हेतु ही मूल्य था इन विषयों को आलोचित अध्याय में विमर्श का विषय बनाया गया है।

प्रबन्ध का तृतीय अध्याय वेद कालीन शिक्षा की व्यवस्था नैतिक पृष्ठभूमि को तलाशने का एक प्रयास है। किस प्रकार नैतिकता मूल्य के सहचरी के रूप में खड़ी है एवं शिक्षा पाठ्यक्रम से लेकर समग्र शैक्षिक प्रबन्धन तक को नियमित रखने में कैसे ताना बाना तैयार करती है इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। नैतिक आदर्शो तथा मानदण्डों को अनेक प्रसंगों के माध्यम से वैदिक संहिताओं में इतना सर्वश्रेष्ठ बताया गया है कि मानव प्रकृति और देवता सभी इससे बंधे हैं और इन्हीं नैतिक आदर्शो का अनुपालन वैदिक शिक्षा का हेतु है जिसे विभिन्न विधियों के माध्यम से शिष्यों को प्रेषित किया जाता था।

आलोचित प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में साधन मूल्य के रूप में पुरूषार्थत्रीय (धर्म, अर्थ और काम) की विस्तृत व्याख्या की गयी है। 'धर्म' केवल आध्यात्म नहीं है वरन् जीवन को संचालित करने के लिए एक आचार संहिता है तथा वैदिक मनस्वियों ने इस संदेश के सम्प्रसार तथा शिक्षार्थियों को इसे आत्मसात कराने के लिए किन माध्यमों का प्रयोग किया इसका सविस्तार वर्णन किया गया है। अर्थ और काम पुरूषार्थ के महत्वपूर्ण अंग होते हुए भी धर्म से कैसे आबद्ध हैं और इनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक शिक्षा से अर्थ तथा काम के प्रति व्यक्ति का अनुराग पैदा करते हुए भी उसके अतिरेक से मुक्त किया जाये, इसकी समुचित व्यवस्था वैदिक ग्रन्थों में प्राप्य है।

साध्य मूल्य के रूप में वैदिक शिक्षा का परम मूल्य मोक्ष को पंचम अध्याय में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। मोक्ष संदेह और विदेह दोनों कैसे हैं? मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कर्म कैसे है, जिसमें भक्ति ज्ञान और कर्म तीनों मार्गो का समन्वय है, मोक्ष भौतिक विकारों का समापन बिन्दु कैसे है? मोक्ष केवल वैयक्तिक नहीं वरन् एक सामाजिक दायित्व भी है इन सभी सिद्धान्तों का वैदिक शिक्षा में कैसे समायोजन किया गया था तथा उसे समझाने हेतु तथा उसके अनुपालन हेतु किन मार्गो को प्रस्तावित किया गया था इन सभी के विवेचन का प्रयास किया गया है।

षष्ठम अध्याय वैदिक शिक्षा के समग्र स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें विद्यारम्भ से लेकर समावर्तन तक के सभी बिन्दु मूल्य और नैतिकता पर ही आधारित है, सतर्क व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इसमें शिक्षा के व्यापक उद्देश्य, गुरू शिष्य सम्बन्ध शैक्षिक प्रणाली एवं प्रबन्धन सभी बिन्दुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

प्रबन्ध का सप्तम अध्याय वेद कालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा की आधुनिक युग में प्रासंगिकता को लेकर है। आधुनिक युग के विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु आज भी वैदिक मूल्य उपयोगी है इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

प्रबन्ध के अष्टम अध्याय में सम्पूर्ण शोध अध्ययन से प्राप्त होने वाले महत्वपूर्ण निष्कर्ष, वैदिक शिक्षा के निहितार्थ एवं भावी अध्ययन हेतु कतिपय महत्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तावित किए गये हैं।

गुरु प्रवर प्रो0 एस0पी0 गुप्ता जी के प्रति आभार व्यक्त करना तो मा. औपचारिकता होगी सच तो यह है कि विषय चयन से लेकर इसके समापन तक यदि प्रतिपल उनका सद्–निदेषन नहीं प्राप्त होता तो यह प्रबन्ध अपने वर्तमान कलेवर को प्राप्त नहीं कर सकता था साथ ही अपने सह–निर्देशक प्रो0 डी0 एस0 श्रीवास्तव जी को कैसे विस्मृत कर सकती हूँ जिन्होंने शिक्षा विषय में मुझे परास्नातक कराया तथा अनवरत शोध के प्रति प्रेरित कर मुझे अपना निर्देशकत्व प्रदान किया। शोधकर्त्री के रूप में मेरे नामांकन से लेकर अद्यतन आने वाली विभिन्न तकनीकी एवं अकादमिक समस्याओं को कभी मेरे समक्ष खड़े होकर तो अनेकशः दूरभाष पर सद्यः निवारण का सर्वदा प्रयास किया। मैं अपने दोनों गुरूजनों के प्रति बहुत कृतार्थ हूॅ और इस अवसर पर अत्यन्त उपकृत भाव का अनुभव करते हुए नमन कर रही हूँ। गुरु पत्नी द्वय का भी सदैव आशीष मेरे ऊपर रहा है चाहे अनचाहे किसी भी समय पहुँचकर गुरुओं के व्यक्तिगत समय को भी अपना बनाने के दुष्प्रयास को इन्होंने अत्यन्त सदाशयता से लिया और इसे अनाधिकार चेष्टा के दायरे में नहीं आने दिया। मैं दोनों के प्रति नमन प्रेषित करती हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे परिवार के सहयोग के बिना कैसे पूरा हो सकता था, यह सोचकर आज भी मैं आश्चर्य से भर जाती हूँ। मेरे पति डा0 आनन्द शंकर सिंह (प्राचार्य, ईश्वर शरण डिग्री कालेज इलाहाबाद) को मैं इस शोध का सम्पूर्ण श्रेय देना चाहूँगी जिन्होंने न केवल मुझे मानसिक रूप से यह कार्य करने की ऊर्जा दी वरन् साथ ही प्रत्येक पल मुझे सम्बल एवं सहयोग भी प्रदान किया। मेरे अनुज अनुराग शंकर सिंह, कार्तिकेय, छोटी बहन संध्या को धन्यवाद देना

चाहूँगी जिन्होंने मेरे इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने में सहायता की। पुत्र सातत्य और पुत्री अन्वीक्षा को मैं उनके धैर्य और सहायता करने के लिए साधुवाद देती हूँ तथा मेरे अन्य शुभेच्छु श्रीमती प्रतिभा राय, डा0 इनु प्रकाश सिंह, एवं श्याम मनोहर जी को मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इस प्रबन्ध को पूर्ण करने में तथा मेरे अन्दर साहस का संचार करने में अपना प्रकृष्ट योगदान दिया।

अन्ततः मैं अपने सभी गुरूजनों, परिवारजनों एवं शुभेच्छुओं के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इस प्रयास को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।

श्रुति आनन्द

15 जुलाई, 2005 **श्रुति आनन्द**

अनुक्रमणिका

अध्याय – 1

प्रस्तावना :

मानव जीवन में मूल्य प्रसरण किसी भी दार्शनिक या दार्शनिक सम्प्रदाय से अधिक व्यापक एवं महत्वशील है। मानव जीवन निम्नतर जीवों की तरह एक नियत प्रवृत्ति चक्र से बंधा नहीं है। मनुष्य चेतन रूप से किन्हीं साधनों की प्राप्ति के लिए कर्म प्रवृत्त होता है। मनुष्य अपने साधन का पूर्व ज्ञान ही नहीं रखता बल्कि इसके प्रति सतत् जागरूक भी रहता है। आत्म बोध की अद्भुत प्राकृतिक देन मनुष्य को अपने विचारों भावों और क्रियाओं के मूल्यांकन में प्रवृत्ति करती है। आत्म बोध का विकास मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को समायोजित करता है और वह आदर्श विषयों की खोज करता है। आदर्श विषयों की यह खोज ही मूल्यान्वेषण है। इस प्रकार मूल्य विकासशील मानव जीवन के लक्ष्य और उपलब्धि हैं। ''वास्तव में जिस विषय को खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त हो वही मूल्य है। अथवा सम्यक् ज्ञान पूर्वक जिस विषय की कामना की जाय उसका सार रूप ही मूल्य है।'' (जी.सी. पाण्डेय – मूल्य मीमांसा)

स्वभावतः विचार शील होने के कारण मनुष्य अपने परम लक्ष्य (मूल्य) की संप्राप्ति हेतु सर्वदा सचेष्ट रहा है और यही सचेष्टता उसकी गति है तथा गति ही जीवन है। मूल्य प्राप्ति की चेतना मानव की गति की प्रेरक है। विवेकशील प्राणी होने के कारण मानव यह सोच पाता है कि क्या शुभ है अथवा क्या अशुभ। जो शुभ है वही मूल्य है और जो अशुभ है वह अपमूल्य है। इसी शुभ और अशुभ के द्वन्द्वात्मक अन्तराल में मूल्य शब्द का प्रादुर्भाव हुआ है।

मानव मस्तिष्क को विवेक सम्मत तथा और अधिकतम सम्मत बनाने के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता होती है और शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली

एक सतत् प्रक्रिया है। मानव जन्म से लेकर चिर निद्रा में निमग्न होने तक अनवरत कुछ न कुछ सीखता रहता है। सीखने की इस प्रविधि के परिणाम स्वरूप उसे कतिपय अनुभव प्राप्त होते है। ये अनुभव ही उसके व्यवहार जगत के निर्धारक एवं निर्मापक होते हैं। आचार व्यवहार ही व्यक्ति के जीवन दर्शन तथा मूल्यों को प्रतिबिम्बित करते हैं। साम्प्रतिक समाज ह्रासोन्मुख नैतिक मूल्यों का दर्पण बनता जा रहा है ऐसे में उद्देश्य तथा आदर्श विहीन मनुष्य और उसमें समाज की प्रगति पर प्रश्न उठना प्रासंगिक है। चूंकि शिक्षा मानव विकास का सतत् माध्यम है जिसके द्वारा वह अपनी लुप्त प्राय प्रतिष्ठा, संस्कृति का संरक्षण, एवं नैतिकता तथा शाश्वत मूल्यों की सुरक्षा सुनिश्चित कर सकता है। आज का बालक कल का नागरिक है, इस तथ्य को ध्यातव्य रखते हुए यह परमावश्यक हो जाता है कि छात्रों में सम्यक शिक्षा के माध्यम से मूल्य बोध तथा नीति बोध जागृत किया जाये जो उच्चादर्श की संप्राप्ति में सहायक हो सके।

अध्ययन की आवश्यकता तथा वर्तमान में प्रासंगिकता :

साम्प्रतिक काल खण्ड में भौतिक वादिता की गति इतनी तीव्रतम हो गयी है कि शाश्वत मूल्य जो मानव, समाज और राष्ट्रीय संस्कृति को संरक्षित करने के लिए प्रत्यक्षतः तथा परोक्षतः अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी कहीं विस्मृत से हो गये हैं नैतिकता और शाश्वत मूल्यों के लुप्त होते इस परिवेश में मनुष्य संवेदनहीन और नितान्त स्वार्थी होता जा रहा है। इससे सामाजिक अराजकता और राष्ट्र बोध की अवधारणा कमजोरतर सिद्ध हुई है। आर्ष चिन्तन के युग में भी भौतिक परिलब्धियों को कभी नकारा नहीं गया था लेकिन उसे आध्यात्मिकता के दायरे में स्वीकार करने की प्रवृत्ति ने मानव को मानव बने रहने देने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। वैदिक आर्य जब मानवीय समाज और संस्कृति का प्रथम पाठ

पढ़ रहा था उस समय भी उसने "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः सधर्मः" की अवधारणा को आत्मसात किया था जिसमें भौतिक उपलब्धि और निःश्रेयस् की प्राप्ति समान स्तर पर देखने और प्राप्त करने का आहवान है भौतिक उपलब्धि साधन है औरआध्यात्मिक उपलब्धि साध्य। परन्तु आधुनिक मानव ने येन केन प्रकारेण प्राप्त की हुई भौतिक परिलब्धि को ही साध्य और साधन दोनों मान लिया जिसके कारण सामाजिक असन्तुलन, पारिवारिक असन्तुलन, व्यक्तिगत संवेदन हीनता, राष्ट्रीय चरित्र का क्षरण और अपनी मूल चेतना से विचलित होने के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार की विसंगतियां पैदा हुई।

इस दुष्कर परिस्थिति में वैदिक कालीन मूल्य और नैतिक शिक्षा का महत्व सामाजिक सन्नियमन के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने लगा है। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित अध्ययन की महती आवश्यकता को वक्ष्यमाण पंक्तियों में अभिचर्चित किया जा सकता है –

1. वैदिक कालीन मूल्य तथा नैतिक शिक्षा क्या साम्प्रतिक युग में भी प्रासंगिक कही जा सकती है? और यदि हाँ तो आधुनिक सन्दर्भो में इसका स्वरूप एवं व्यवहार क्या हो सकता है और क्या प्राचीनतम् तथा नवीनतम् युग के मध्य इसे एक अविछिन्न कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है?

2. मानव व्यवहार के नियमन एवं विनिश्चयन के लिए मूल्य एवं नैतिक शिक्षा को स्पष्ट करना।

3. मूल्य बोध की अचेतनता ही साम्प्रदायिक दंगे एवं भ्रातृत्व ह्रास का कारण है अतएव इसके महत्व की प्रतिस्थापना पर बल देना।

4. मानवीय दायित्व बोध की प्रस्थापना को नैतिक तथा मूल्य बोध की पृष्ठभूमि पर तलाशने का प्रयास करना।

5. मूल्य शिक्षा त्रिपदीय बतायी गयी है - अ. संज्ञानात्मक ब. भावात्मक स. क्रियात्मक। इस परिधि में वैदिक मूल्य शिक्षा के महत्व को समझते हुए आधुनिक युग में उसके स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास करना।

6. मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता की संरक्षा हेतु मूल्य एवं नैतिकता के आर्ष चिन्तन के रहस्य को समुद्घाटित करना।

7. वैदिक मूल्य बोध/नैतिकता अथवा वैदिक शिक्षा केवल मोक्ष का साधन नहीं था वरन् सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में व्यक्ति को संक्षम भी बनाना था - इसे स्पष्ट करना।

8. वैदिक परम्परा में मूल्य एवं नैतिक शिक्षा दर्शन की शोध परक व्याख्या को केन्द्र में रखकर भारतीय चिन्तन परम्परा को सार्वदेशिक बताते हुए विश्व पटल पर पुनर्स्थापित करने का विनम्र प्रयास करना।

अध्ययन के उद्देश्य :

वैदिक कालीन शिक्षा में मानवीय जीवन के सभी पहलुओं को पारम्परिक तरीके से ही सही, सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। संस्कारित मानव जीवन के आधार स्तम्भ मूल्य एवं नैतिकता किस प्रकार हो सकते हैं। इसे अपने तरीके से वैदिक संहिताओं में विवेचित किया गया है। वैदिक कालीन उस अनौपचारिक विधा का आधुनिक औपचारिक विधा से सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है यह इस अध्ययन के उद्देश्य में निहित है।

वैदिक कालीन मूल्य और नैतिक शिक्षा के आलोचित अध्ययन में कतिपय विशिष्ट उद्देश्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

1. प्रस्तुत प्रबन्ध में वेदकालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा के प्रत्यय उसकी विकास यात्रा तथा उसकी इयत्ता को स्पष्ट किया जायेगा साथ ही साथ इस बात पर दृढ़ता से बल दिया जायेगा कि वैदिक कालीन शिक्षा में जीवन को आध्यात्मिक नैतिक तथा भौतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए नैतिक मूल्य एवं पुरूषार्थ के मध्य कैसा सम्बन्ध था इसे सुपरिभाषित कर स्पष्ट करने का प्रयत्न होगा।

2. वैदिक कालीन मूल्य और धर्म के अर्न्तसम्बन्ध के आधार पर आधुनिक समाज को भी पुनरचित तथा दिग्दर्शित किया जा सकता है और धर्म केवल कर्मकाण्ड नहीं था वरन् वह जीवन जीने का एक व्यापक तरीका था। जिसमें निखिल ब्रहमाण्ड का हित सुरक्षित था उस भावना को आज मानव-मानव और मानव प्रकृति के मध्य व्यालोडित हुए सम्बन्ध को पुनः संयमित एवं संतुलित करने के लिए एक कथन मात्र न मानकर ''सर्व भूत हिताय'' के रूप में आज भी उसकी परमावश्यकता है, इसतथ्य को स्पष्ट करने का एक लघु प्रयास है।

3. आधुनिक युग अर्थ युग के नाम से अभिहित किया जा रहा है जिसमें मूल्य एवं नैतिकता का कोई स्थान नहीं है लेकिन वैदिक ऋषियों ने अर्थ भी एक विशिष्ट मूल्य है वह भी तब जब वह धर्म से सुसंगत हो और पूर्ण नैतिक, आधुनिक परिभाषा से अधिक वैज्ञानिकएवं व्यावहारिक प्रतीत होता है। यह दर्शन आधुनिक अर्थ संगत सभी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अब भी प्रासंगिक है इस तथ्य को रेखांकित किया गया है।

4. आधुनिक मानव समाज काम को मात्र भोग समझता है और व्यक्ति स्वातंत्त्य की अवधारणा की परिधि में इसे स्वच्छन्द अथवा उन्मुक्त कामाचार तक ले जाता है जिसमें नैतिकता का कोई स्थान नहीं है कारण समाज में बढ़ रहा बलात्कार और काम अपराध की प्रवृत्ति हमारे समक्ष उदाहरण है लेकिन वैदिक कालीन मूल्य शिक्षा के माध्यम से काम एक ऊर्जा है और इसके लिए भी एक संस्कार और नैतिकता की सुदृढ़ आवरण का निर्माण किया गया था जिसमें काम एक मूल्य था यदि इस अवधारणा को आधुनिक समाज स्वीकार करता है तो उस वैदिक कालीन दर्शन का आधुनिक सामाजिक उद्देश्य को प्राप्त करने में भी उस वैदिक दर्शन का अत्यन्त महत्व दिखाई पड़ता हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसके विश्लेषण के माध्यम से वैदिक चिन्तन को आधुनिक सन्दर्भो में अत्यन्त महत्व देते हुए उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

5. वैदिक कालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा का कोई भी सिद्धान्त केवल आदर्श नहीं था वरन् यथार्थ अधिक था जिसमें ब्रहम के साथ-साथ जीवन और जगत को भी सत्य स्वीकार करते हुए इसकी शिक्षा देने का प्रयास किया गया। जब वैदिक आर्य 'ऋत' प्रत्यय की व्याख्या करता है तो वह स्पष्ट रूप से इसे आध्यात्मिक, भौतिक तथा नैतिक तीनों स्तरों पर स्वीकार करता है और इतना ही नहीं बल्कि इसे मानव और देवता दोनों के लिए अनिवार्य बताता है। आज भी सामाजिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इस ठोस वैदिक कालीन आदर्श और यथार्थ के मध्य सम्बन्ध को समझना अत्यन्त आवश्यक है जिसका प्रस्तुत अध्ययन के माध्यम से प्रयास किया गया।

6. वैदिक कालीन शिक्षा के पारम्परिक तरीके में सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की शिक्षा सन्निहित थी जिसका विश्लेषण वैदिक संहिताओं के द्वारा

तथा अपरा ज्ञान के रूप में विवेचित किया गया है। अपरा ज्ञान लौकिक ज्ञान था जिसके माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में दक्ष बनाया जाता था और परा विद्या जिसके माध्यम से व्यक्ति को ब्रहमज्ञान की शिक्षा दी जाती थी और वह मोक्ष को प्राप्त करता था जो सर्वोत्तम व्यक्तिगत उद्देश्य था। इस प्रकार वैदिक शिक्षा व्यक्ति के इहलोक तथा परलोक दोनों से सम्बन्धित थी। यदि इसे दूसरे अर्थ में कहा जाय तो आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य से वैदिक शिक्षा का उद्देश्य बृहद था।

समस्या की उत्पत्ति : कारण एवं समस्या का शीर्षक :

सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षणोपरान्त यह अभिज्ञात हुआ कि प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में बहुत सारे विद्वत जनों ने उत्कृष्ट शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए हैं। प्राचीन शिक्षा व्यवस्था तथा नवीन शिक्षा व्यवस्था में मूल्य एवं नैतिकता के महत्व को, जिन पाश्चात्य तथा भारतीय चिन्तकों ने अपने अध्ययन का विषय बनाया है उनमें कुछ निम्नोक्त हैं –

यथा :–

भारतीय शिक्षा का इतिहास	शंकर विजय वर्गीय
शिक्षा के आयाम	डा0 सत्य प्रकाश पचौली
शिक्षा समीक्षा	डा0 राम शकल पाण्डेय
प्राचीन भारतीय शिक्षा की पद्धति	अनन्त सदाशिव अल्टेकर
ऐंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन	डा0 आर0 के0 मुखर्जी
द एजुकेशन सिस्टम ऑव दि ऐंशिएण्ट इण्डिया	सन्तोष कुमार दास

वैल्यू एजुकेशन	डा० एन० वेंटकारिया
मूल्य मीमांसा	गोविन्द चन्द्र पाण्डेय
मूल्य शिक्षा	डा० एन.एल० गुप्ता
शिक्षा में मूल्य	प्रेम किरपाल
वेल्यू एण्ड एजूकेशन इन महाभारत	डा० एन०एल० गुप्ता
इण्टरनल वैल्यू फार चेजिंग सोसाइटी	स्वामी रंगनाथन आनन्द
एजूकेशनल वैल्यूज	बल्जे
फण्डामेन्टल आफ इथिक्स	प्रो० अरवान
मॉरल प्रिंसिपल इन एजूकेशन	जान डयूवी
मॉरल फिलासफी फार एजूकेशन	राबिन बैरो
एन आइडियलिस्टिक ब्यू आफ लाइफ	राधाकृष्णन
इथिक्स आफ इण्डिया	हापकिन्स
डेवलपमेन्ट आफ मॉरल फिलासफी इन इण्डिया	सुरमा दास गुप्ता
हिन्दू इथिक्स	मैकेन्जी
भारतीय नीति का विकास	राजबली पाण्डेय
हिन्दू सिविलाइजेशन	पी०एन०एच० प्रभु

उक्त तथा इसके इतर भी अनेकानेक ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा व्यवस्था तथा प्राचीन हिन्दू शिक्षा व्यवस्था में मूल्य शिक्षा एवं नैतिक शिक्षा के ऊपर विभिन्न दृष्टियों से कई महत्वपूर्ण शोध कार्य सम्पादित हुए

को इतर रखने का प्रयास किया जाता है। क्योंकि इन कालावधियों में विद्या का वैविध्य देखने को प्राप्त होता है। इसलिए प्रस्तुत कालावधि से सम्बन्धित साहित्य के स्रोतों के चयन के प्रति सावधानी बरतने की अपेक्षा की जाती है।

हमने अपने विषय से सम्बन्धित मूल्य एवं नैतिक शिक्षा व्यवस्था की समस्या हेतु वैदिक काल खण्ड को विषय बनाया है जिसमें पूर्व और उत्तर वैदिक दोनों ही काल खण्डों को समाहित किया गया है परन्तु तथ्यों की पड़ताल के लिए जिन साहित्यिक स्रोतों का उपयोग किया गया है उनकी स्पष्ट सीमा रेखा का निर्धारण किया गया है।

आलोचित शोध विषय के अध्ययन के लिए जिन वैदिक साहित्य को आधार बनाया गया है उनमें पूर्व वैदिक काल के लिए ऋग्वेद को तथा उत्तर वैदिक काल के लिए यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद और इनके साथ उक्त चारों वेदों के ब्राहमण ग्रन्थ, इनके आरण्यक ग्रन्थ, इनके उपनिषद ग्रन्थ तथा इनके सूत्र ग्रन्थों को विशेष रूप से मीमांसा का विषय बनाया गया है।

परन्तु वैदिक परम्परा एवं प्रवृत्ति का विकास एवं समुपवृँहण परवर्ती ग्रन्थों में भी पर्याप्त रूप में देखने को मिलता है इस निमित्त कतिपय परवर्ती कालीन विशिष्ट ग्रन्थों को भी साहित्यिक स्रोतों के रूप में स्वीकार्य किया गया है जिनमें प्रमुखतः महाभारत कतिपय स्मृति ग्रन्थ, कौटिलीय अर्थशास्त्र, हितोपदेश इत्यादि के तथ्यों को आवश्यकतानुसार विषय को समीक्षित एवं परिशेषित करने के क्रम में ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के कालेतर ग्रन्थों को उदाहृत करने के बावजूद निरन्तर इस तथ्य को बोधगम्य बनाया गया है कि कहीं भी मूल विषय का अतिक्रमण न हो

और उन ग्रन्थों का उपयोग सम्पूर्ण विषय के शैक्षिक एवं ऐतिहासिक यात्रा को सार्थक बनाने में सहयोग कर सके।

प्रस्तावित अध्ययन की अनुसंधान विधि :

प्रस्तावित शोध कार्य हेतु ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया गया है। प्रायः विगत घटनाओं के निरूपण के लिए ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया जाता है। जिसमें दो तथ्यों पर विशेष ध्यान रखा जाता है। पहला तो यह कि इस अनुसंधान विधि के द्वारा ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करना जिसका ज्ञान न प्राप्त हुआ हो और दूसरा तथ्य यह कि इस विधि के प्रयोग द्वारा पुराने अनुसंधान का संशोधन करना हो। इस प्रकार यह विधि भविष्य को समझने के लिए भूत का विश्लेषण करती है यह विश्लेषण विषय विशेष के गहन अध्ययन, सन्देहास्पद दृष्टि से साहित्य सर्वेक्षण तथा अन्वेषणात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि कोण के माध्यम से प्राप्त होता है। ऐतिहासिक अनुसंधान विधि में अनुसंधान की पूर्ति के लिए साधनों की पर्याप्त आवश्यकता अनुभव होती है जो दो प्रकार के माने गये हैं – 1. प्राथमिक साधन – ये साधन विषय के प्रथम साक्षी या मूल घटना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले होते हैं जैसे मूल पुस्तक, चित्र, मूर्तियां सिक्के वंशावलियां, कहानियां, आख्यान, वृतान्त आदि। 2. द्वितीयक साधन – ये वे साधन होते हैं जिनमें सत्य का अंश तो होता है पर इनका प्रत्यक्षतः विषयी के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। ये घटना से सम्बन्धित तो होते हैं परन्तु इनकी वास्तविकता में किंचित परिवर्तन होता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक अनुसंधान विधि में दोनों ही साधनों की भूमिका अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। इन विधियों को स्वीकार करते समय इनसे प्राप्त तथ्यों को भी आन्तरिक क्रमबद्धता तथा बाहय क्रमबद्धता को आधार बनाते हुए यह निर्धारित करने का प्रयास करते हैं कि प्राप्त मूल तथ्य जो प्राथमिक साधन से

प्राप्त हुए हैं उनमें एक रूपता है या नहीं इस तथ्य पर मतैक्य है या नहीं और इस तथ्य का कोई मत विपर्यय तो नहीं है। इन बिन्दुओं पर विचार कर ही हम शोध की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं।

वैदिक कालीन स्रोत सामग्री में प्राप्त होने वाले विचारों में मूल्य और मूल्येतर तथा नैतिक और नैतिकेतर विचारों का अभिनिश्चियन किसी विशिष्ट परिभाषा को प्रदत्त अवधारणा के रूप में स्वीकार करके नहीं किया गया है। उक्त ग्रन्थों के विचारों में नैतिकता को प्राचीन भारतीय मूल्य बोध की आवश्यकता तथा तद्जनित मूल्यों के स्वरूप के सन्दर्भ में रखकर देखा गया है। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में नैतिक मूल्यों के चरम तथा परमार्थिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा को केन्द्र में रखा गया है। प्रस्तावित प्रबन्ध में भी इसे केन्द्र में ही रखकर विवेचना की गयी है।

इस प्रकार इस प्रबन्ध में अपनायी गयी शोध पद्धति केवल विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक भी है। संश्लेषण के माध्यम से व्यक्ति, समाज और राज्य जैसी उन इकाईयों के स्वरूप को उनके बिखरे हुए तत्वों से पुनर्गठित किया गया है। विश्लेषण के माध्यम से परमार्थ और आध्यात्म को चरम सार्थकता मानकर मूल्य और नैतिकता के तत्वों को उभारने की चेष्टा की गयी है। इन दोनों ही पद्धतियों के उपयोग से जहां एक ओर अवर मूल्यों की दबी हुई मूल्यवत्ता को उभारने की चेष्ठा की गयी है वही दूसरी ओर स्रोत सामग्री में दिए गए पारमार्थिक मूल्यों को अवर मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता के सन्दर्भ में रखकर उनकी पारस्परिक अनुपूरकता पर बल दिया गया है किन्तु साथ ही पारमार्थिक मूल्यों की सर्वोपरिता का अनुमोदन भी किया गया है। क्योंकि प्राचीन भारतीय मूल्य बोध के अनुसार वही मानव पुरूषार्थ की पराकाष्ठा है। प्रबन्ध में प्राचीन भारतीय मूल्यगत

ऐतिहासिक एवं पारमार्थिक सन्दर्भो को बनाये रखने का यदि एक ओर प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर उन्हें आधुनिक मानसिकता के लिए उसके पूर्वाग्रहों के बावजूद ग्राह्य बनाने का ही प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से प्रबन्ध का प्रस्तुतिकरण वर्णनात्मक होते हुए भी समालोचनात्मक है।
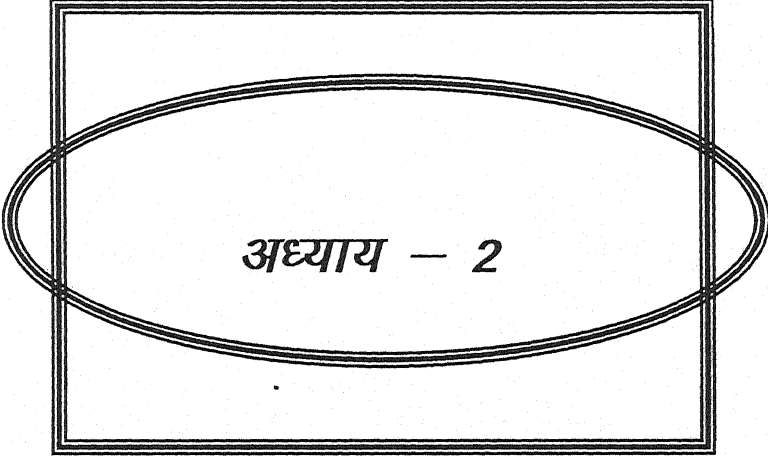
अध्याय – 2

मूल्य : अर्थ, स्वरूप, विस्तार एवं आयाम

मूल्य – अर्थ एवं परिभाषाएँ

वस्तुतः 'मूल्य'' शब्द जितना संक्षिप्त तथा सरल होता है, मानवीय सन्दर्भ में उसकी व्याख्या उतनी ही कठिन है क्योंकि विभिन्न सन्दर्भो में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में होता है। सुविख्यात संस्कृत के विद्वान श्री शिवराम वामन आप्टे[1] के अनसुार –

> **''नपुंसक लिंग संज्ञा शब्द ''मूल्यम्'' का अर्थ ''कीमत'', ''मोल'', ''लागत''** होता है। विशेषण के रूप में ''मूल्य'' शब्द का अर्थ ''मोल लेने योग्य'' होता है।[1]

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार –

''मनुष्य चूंकि पहले व्यक्ति है, इकाई है, उसके अपने कुछ सम्बन्ध होते हैं, परन्तु व्यक्ति मनुष्य एक महत्तर मानव समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है। अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में ''मूल्य'' का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। इन विविध मूल्यों के (संघर्ष के) बाद भी एक बड़ा मूल्य बचा रहता है, जो एक प्रकार से इन सब का सार है और वह है मानव मूल्य।''[2]

किसी वस्तु का मूल्य इसलिए दिया जाता है कि उसमें व्यक्ति अथवा समाज की आवश्यकता को पूर्ण करने की शक्ति होती है। समाज द्वारा उसकी गुण–ग्राहकता मान्य होती है, अतएव कहा जा सकता है कि कोई भी वस्तु जो

व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी हो – मूल्य रखती है। जीवन को उत्कर्षोन्मुख अथवा प्रगतिगामी बनाने के लिए ही मूल्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। डॉ0 हुकुमचन्द्र का अभिमत एदत्‌दृष्ट्या उल्लेख है "जीवन को सम्यक् एवं संयमित ढंग से चलाने के लिए विचारकों ने ऐसा अनुभव किया कि जीवन के लिए कुछ मापदण्ड चाहिए। उन्हीं के आधार पर मूल्यों की बात की जाने लगी।" वस्तुत "मूल्य" व्यक्ति द्वारा उच्चादर्शों की प्राप्ति के वे सोपान हैं, जो जीवनोत्कर्ष के लिए अनिवार्य है।

चेतना तथा धारणा की भांति "मूल्य" भी अमूर्त्त है और अमूर्त्त को शब्दों में बाँधना दुष्साध्य होता है। अतएव कहा जा सकता है कि – मूल्य एक ऐसी वस्तु है, जिसको पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

वस्तुत "मूल्य" शब्द अर्थशास्त्रीय शब्द है। अर्थशास्त्र में किसी वस्तु की क्रय–शक्ति, विपणन–शक्ति अथवा अर्घ्य–शक्ति को "मूल्य" कहा जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है – "मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं है। पाश्चात्य आलोचना में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्य से किया गया है।"

तात्पर्य यह हुआ कि अर्थशास्त्रीय दृष्टि से किसी वस्तु की "क्रय–शक्ति" मूल्य कहलाती है। इस क्रय–शक्ति का आकलन वस्तु की उपयोगिता अथवा उसके उत्पादन व्यय के आधार पर होता है।

नीतिशास्त्रीय दृष्टि से "मूल्य" का अर्थ मानवीय क्रियाओं में "अच्छाई" या "बुराई" से होता है। नीतिशास्त्र में "मूल्यों" की मीमांसा में "शुभ" तथा "अशुभ" मूल्यों पर विचार होता है। कुछ विचारकों के अनुसार सर्व–सम्मत एवं

सर्व–व्यापक मूल्य–निर्धारण असम्भव है। डॉ0 संगम लाल पाण्डेय का मत इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है – 'कहीं मूल्य सुख–दुःखों पर आधारित होता है, तो कहीं सह इच्छा (desire) का विषय है। "कहीं पर यह भावना (Feelings) से सम्बद्ध है, तो कहीं यह रुचि (Interest) का विषय है, कहीं यह मूल्यांकन का आधार है, कहीं यह सत्य के रूप में है तो कहीं यह श्रेय के रूप में।"[3] इसीलिए "मूल्य" पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता यथार्थतः मूल्य और कुछ नहीं व्यक्ति के द्वारा स्व–मन्तव्यों को प्राप्त करने के मानदण्ड हैं, जो जीवन को सत्पथ की ओर अग्रसारित करते हैं। डॉ0 हुकुम चन्द्र ने ठीक ही कहा है कि, "उन्हें ही जीवन का मूल्य माना जाना चाहिए, जिनसे मानव का उत्कर्ष सम्भव हो।"[4]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मूल्य मानव जीवन के उच्चादर्श अथवा आधार–स्तम्भ है जिनके ऊपर मानव का अस्तित्व प्रतिष्ठित है और जो मानव–जीवन को प्रगतिगामी बनाते हैं। हमारे भारतीय विद्वानों एवं पाश्चात्य मनीषियों ने अनेक दृष्टियों से विविध दिशाओं में मूल्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार–विमर्श किया है। सर्वप्रथम, हम मानव मूल्य के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय मनीषियों के विचारों को विश्लेषित करेगें।

मूल्य : प्राचीन भारतीय मनीषियों की दृष्टि में

मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य एवं स्वरूप के विषय में विश्व में मूल रूप से दो पारस्परिक विरोधी विचार धारायें दृष्टिगोचर होती है। पहली विचारधारा संसार को नश्वर तथा क्षणभंगुर मानती है और क्षण–भंगुर होने के कारण असत्य भी मानती है। अतः असत्य विश्व को त्याग कर परम सत्य क खोज में जीवन व्यतीत करने को कहती है। इसके विरूद्ध दूसरी विचारधारा के मतानुसार जीवन की सार्थकता भोगवाद एवं सुखवाद में है। अतः भोगवादी इस जगत को सत्य

स्वीकारते हुए प्रत्येक वस्तु के भोग में जीवन की सफलता बताते हैं। उन्हें अगोचर, अथवा अज्ञात की खोज में जीवन यापन निरर्थक ज्ञात होता है। इनके विचारानुसार यथार्थ सत्य तो वर्तमान जीवन है और अधिकांश सुखोपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

सनातन भारतीय चिन्तनधारा में दोनों दृष्टिकोणों का समुचित सामंजस्य है। इनके अनुसार जीवन सरिता के दो तट हैं :-

1. आध्यात्मिक तथा 2. भौतिक (पारलौकिक तथा इहलौकिक)

दोनों में मूलतः कोई स्थायी अन्तर नहीं है। सांसारिक सत्य के मार्ग द्वारा ही शाश्वत सत्य की प्राप्ति वांछनीय है। वस्तुतः दोनों अभिन्न है। दोनों के समन्वय में ही मानव जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता है। इन दोनों के समन्वित रूप को भारतीय चिन्तन-परम्परा में ''पुरूषार्थ'' कहा गया है।[5] इसमें भौतिक सुख के अन्तर्गत अर्थ एवं काम हैं तथा आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत धर्म एवं मोक्ष। अर्थ एवं काम मानवेच्छा के सहज विषय हैं और धर्म एवं मोक्ष मानवेच्छा के उचित एवं आदर्श विषय हैं।[6] पुरूषार्थ नियोजित मनुष्य धर्मानुकूल भौतिक या दुनियावी सुखोपभोग करता हुआ जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसित होता है, वस्तुत पुरूषार्थ व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रस्तुत करता है जिसका अनुगमन करते हुए मनुष्य स्वयं के लिए जीते हुए भी समष्टिगत मूल्यों का संधान करता है। हमारे प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने ''पुरूषार्थ'' को जीवन मूल्यों का पर्याय माना है। पुरूषार्थ का कोशगत अर्थ प्रयत्न, प्रयास, पराक्रम आदि है किन्तु भारतीय जीवन दर्शन में यह ''पुरूषार्थ रूढ़ि सा हो गया है। भारतीय विचारकों के अनुसार जीवन के चार पुरूषार्थ या लक्ष्य (मूल्य) हैं :- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

इनमें "मोक्ष" जीवन का परम मूल्य है। "पुरूषार्थ वस्तुतः एक साधना है, जिसमें धर्म के आधार पर "अर्थ" तथा "काम" (इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुए, पारलौकिक जीवन को साधने का प्रयास है।"

इस प्रकार मानव जीवन के चार प्रमुख साध्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ही पुरूषार्थ हैं। इनके द्वारा इहलोक एवं परलोक दोनों के सुखों की प्राप्ति सम्भव है दूसरे शब्दों में मानव जीवन का उद्देश्य इन्हीं पुरूषापर्थी (मूल्यों) को प्राप्त करता है।

मूल्यः पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में

पाश्चात्य विचारकों ने "मूल्य" को विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया है। प्रमुख रूपेण इन विद्वानों ने समाजशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय एवं उपयोगितावादी आदि दृष्टियों से "मूल्य" की व्याख्या की है। पाश्चात्य समाजशास्त्री हेरिक मानव मूल्यों को सामाजिक सन्दर्भो में व्याख्यायित करता हुआ लिखता है कि "यह सत्य है कि मानवीय मूल्य सामाजिक चौखटे में रखे जाते हैं।"[7] स्पष्ट है कि हेरिक महोदय मूल्यों को सामाजिक सन्दर्भो की परिधि में ही रखना चाहते हैं। समाज में ही वे व्यक्ति की सार्थकता मानते हैं। वे समाज से अलग वैयक्तिक मूल्यों को नकार देते हैं। जोसेफ एच0 फीचर ने भी मूल्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मूल्य" वे मानदण्ड हैं, जो व्यक्ति और समाज को अर्थ तथा महत्व प्रदान करते हैं।" जोसेफ महोदय के विचार से समाज प्रधान होता है और व्यक्ति गौण।

लोरी नेलसन तथा उनके सहयोगियों ने सामाजिक दृष्टि से मूल्यों को वास्तविक रूप में अमूर्त (Abstractions) मानते हुए उनको परिभाषित तथा विश्लेषित करना कठिन माना है।''[8]

सामाजिक दृष्टि से मानव मूल्यों को व्यक्ति एवं समाज के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जाता है () वैयक्तिक मूल्य, तथा (2) सामाजिक मूल्य।

किन्तु दोनों के बीच कोई रेखा खींचना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैयक्तिक मूल्य ही व्यक्ति से ऊपर उठकर सामाजिक मूल्य बन जाते हैं। वैयक्तिक मूल्यों में व्यक्ति स्वातंत्र्य, अहिंसा आदि आते हैं और सामाजिक मूल्यों में आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक मूल्य सन्निहित है।

पाल एडवर्ड्स ने ''इनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी'' में नीतिशास्त्रीय दृष्टि से ''मूल्य'' को स्पष्ट करते हुए लिखा है ''मूल्य का संकुचित दृष्टि से अर्थ ''शुभ'', ''वांछनीय'' या ''योग्य'' तथा व्यापक दृष्टि से इसका अर्थ है – ''सब प्रकार का औचित्य'', ''कृतज्ञता'', ''गुण'', ''सौन्दर्य'', ''सत्य'' और ''पवित्रता''।[9] स्पष्टतः पाल की दृष्टि नीतिशास्त्रीय है। वह मूल्य को मानव जीवन का मार्ग-दर्शक मानता है। वे ''शुभ'' एवं ''अशुभ'' अथवा ''अच्छाई'' तथा ''बुराई'' की परिधि में ''मूल्यों'' की अर्थवत्ता स्वीकारते हैं। ''इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'' में ''मूल्य'' को व्याख्यायित करते हुए लिखा गया है ''मूल्य जीवन के अस्तित्व तथा उसकी उन्नति के सन्दर्भ में परिभाषित होते हैं।'8[10] जी0 ई0 मूर महाशय ने ''शुभ'' के सन्दर्भ में ''मूल्य'' को स्पष्ट करते हुए लिखा है – ''शुभ एक ऐसा शरीर विषयक पूर्ण है, जिसके सभी अंग स्वलक्ष्य मूल्य होते हैं।''[11] स्पष्ट है कि ''मूर'' महाशय ने शुभ के परिप्रेक्ष्य में ही मूल्य को परिभाषित किया है। अर्बन ने ''मूल्य'' को सविस्तार व्याख्यायित किया है। उसने गुणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है – ''मूल्य

वह है, जो मनुष्य की इच्छा की पूर्ति करता है।"[12] इस प्रकार अर्बन "मूल्य" को मानवेच्छा की पूर्ति का साधक मानता है।

ब्राइट-मैन के अनुसार - मूल्य से हमारा आशय किसी पसन्द, पुरस्कार, वांछित पहुंच या आनन्द से है। किसी क्रिया या वांछित वस्तु का वास्तविक अनुभवों पर आनन्द प्राप्त करना ही मूल्य समझा जाता है, अर्थात इस परिभाषा के अनुसार मूल्य में समस्त सुखदायी भावनायें निहित हैं।

वी0एस0 सान्याल के अनुसार - मूल्य आंशिक रूप से भाव या तर्क से सम्बन्धित है, व स्थिर प्रकृति के होते हैं।

मूल्यों के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की व्याख्या करते हुए मफी-मर्फी एवं न्यू कौम्ब का कहना है कि मूल्य सामान्य रूप से किसी उद्देश्य की प्राप्ति का एक विन्यास है।

विलियम आर0एम0[13] के अनुसार - मानव के लक्ष्य खोजने के व्यवहार की क्षमता से उसकी इच्छायें और प्रयत्न उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार मानव सचेचन ढंग से अपने लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की प्राति करता है, उद्देश्यों में प्रायः संघर्ष होता रहता है। इसलिए मनुष्य स्वभावतः अपने लक्ष्यों को परस्पर एक दूसरे के साथ तौलता है, जब यह तौलना आलोचनात्मक ढंग से किया जाता है, तो मूल्यों की उत्पत्ति होती है।

स्प्रेन्गर[14] का विश्वास था कि - व्यक्ति के मूल्यों से उसका दायित्व जाना जा सकता है।

इसलिए उसने अपनी पुस्तक 'टाइम्स आफ मैन' में 6 प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख किया।

आलपोर्ट के मतानुसार मूल्य वह क्रिया है जो किसी उद्दीपक से उद्दीप्त होती है।

मारिश ने मूल्य को परिभाषित करते हुए बताया कि मूल्य अधिक सम्मान देने वाला एक व्यावहारिक विज्ञान है।

एवरेट के दृष्टिगोचर से मूल्य वह भावना है जो क्रियाओं से निर्मित होती है।

कलुक होन के मतानुसार मूल्य इच्छाओं के प्रत्यय हैं जो चयनात्मक व्यवहार के लिए महत्वपूर्ण होते हैं, जो कि एक विशेष प्रकार की आवृत्तियां भी होती हैं, जो प्रतिमानों के रूप में कार्य करती हैं।

निष्कर्षतः मूल्यों के विषय में "पाश्चात्य" विद्वानों द्वारा व्यक्त विभिन्न दृष्टिकोणों के विचार प्रस्तुत करने पर भी सुनिश्चित परिभाषा देना अतीव दुष्कर कार्य है। वास्तविक रूप में "मूल्य" को किसी एक परिभाषा में बाँधना, उसकी वास्तविकता को स्पर्श मात्र करना है। वस्तुतः मूल्य वही है, जो समाज द्वारा सर्वस्वीकृत तथा मान्य हों और जो मानव का हित कर सकें।

नवीन मूल्यों का सृजन

परिवर्तन सृष्टि का अपरिहार्य नियम है। पुरानी मान्यताएं नए विचारों को जन्म देती हैं। प्राचीन समाज का ढाँचा जहाँ बदला, वहाँ नए मूल्यों की स्थापनाएं स्वाभाविक रूप में होती है। यह परिवर्तन युग की सहज देन होती है।

प्रचलित परम्पराओं की आधार-पीठिका पर भी नए मूल्य जन्म लेते हैं। मूल्य थोपे नहीं जा सकते वे सहजतः उत्पन्न होते हैं। "जितने भी मूल्य हैं, उनकी

पीठिका सिर्फ समाज ही हो सकता है। क्योंकि व्यक्ति का विकास तो समाज की दिशा में होता है। असल में प्रश्न यह है कि चाहे वे सामाजिक मूल्य हो चाहे वे वैयक्तिक मूल्य हो, वे "मानव मूल्य" है या नहीं वे उस सत्य को वाणी देते हैं या नहीं, चाहे वह व्यक्ति के रूप में हो, चाहे समाज के रूप में, मानवीय मूल्य एक ही हैं।'8[15] कवि वरेण्य श्री रामधारी "दिनकर" सामाजिक सन्दर्भ में मूल्यों की अर्थवत्ता मानते हुए "मूल्य" को परिभाषित करते हुए लिखते हैं – "मूल्य वे मान्यताएं हैं, जिन्हें मार्ग दर्शक ज्योति मान कर सभ्यता चलती रही है और जिसकी उपेक्षा करने वालों को परम्परा अनैतिक, उच्छश्रृखल या बागी कहती है। किन्तु कभी–कभी ऐसा भी होता है कि पुराने मूल्यों को मिटा कर, उनकी जगह नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान बन जाते हैं।"[16] मूलतः "मूल्य" समाज के लिए मार्ग–दर्शक ज्योति होते हैं और उन्हीं के प्रकाश में मानवीय सभ्यता बढ़ती है। जो मूल्यों की अवहेलना करते हैं उन्हें प्रचलित परम्परा अवमानित एवं उपेक्षित करती है। वस्तुतः युगीन बदलती हुई परिस्थितियों का संघर्ष नए वैयक्तिक मूल्यों की सर्जन करता है। यह सत्य है कि कभी–कभी नए मूल्य सर्जक अत्यधिक प्रशंसनीय एवं यशस्वी बन जाते हैं। डॉ0 एन0 के0 देवराज ने संस्कृति का दार्शनिक विवेचन मानव मूल्यों के सन्दर्भ में करते हुए लिखा है "मनुष्य लगातार जीवन की सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है। वे सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं, जिनके लिए वह जीवित रहता है जिन आदर्शो एवं मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है, उसकी गरिमा और सौन्दर्य मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं।" डॉ0 देवराज ने "मूल्यों" को संस्कृति के साथ जोड़ा है। सचमुच "मूल्य" संस्कृति के अपरिहार्य अंग हैं। मूल्य और आदर्श ही मनुष्य के जीवन के मुख्याधार हैं।

डॉ0 जगदीश गुप्त ने "मूल्यों" के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है – "बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे हुए मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा है उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है। इससे भिन्न रूप में मानव मूल्य की कल्पना मैं नहीं कर पाता।" यहां पर डॉ0 गुप्त ने मानवीय संवेदनाओं से मूल्य को जोड़ा है। मानवीय संवेदना से उनका तात्पर्य मानव की अन्तरात्मा से है। साथ ही वे मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता की प्रतिष्ठा भी मानते हैं। "साहित्य-कोश" में मानव मूल्यों के विषय में लिखा गया है – "मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों कहीं मानव निर्मित निकष या कसौटियां हैं, जिनके सहारे जीवन की परख की जाती है। मनुष्य चूंकि पहले व्यक्ति है, इकाई है, उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं, परन्तु व्यक्ति या मनुष्य एक बृहत्तर मानव समाज का परिवार, नगर, प्रदेश, राष्ट्र या संसार का सदस्य, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है। अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में "मूल्य" का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।"[17] यहॉ पर वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के साथ जोड़कर सामाजिक मूल्यों को उच्चतर माना गया है। सारतः मानव मूल्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे ही श्रेष्ठ मानव मूल्य कहे जा सकते हैं, जो समाजहितकारक हों और मानवोत्कर्ष-कारी हों। मूल्य वे आधार स्तम्भ हैं, जिनके ऊपर मानव जाति का अस्तित्व आधारित है। मूल्य वे ज्योतिर्मान नक्षत्र हैं, जो मानव मंगल का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

मानव मूल्य के तत्त्व

मूल्य सर्जक अवयवों या तथ्यों को "मूल्य के तत्व" की संज्ञा से अभिहित किया गया है। मूल्य वे मानवीय आदर्श, मानदण्ड या मान्यताएं हैं जिन्हें

मार्ग–दर्शक ज्योति मान कर सभ्यता चलती है और उनका अवलम्ब ग्रहण करके मानव प्रगति पथानुगामी बनता है। संक्षेपतः ''मूल्य'' के प्रमुख तत्व निम्नोक्त हैं:

1. *मूल्य के धार्मिक तत्त्व*

धर्म–सम्बन्धी विचारों एवं मान्यताओं को मूल्य का धार्मिक तत्व माना जाता है। उदाहरणार्थ – मध्ययुग भक्ति–काल में समाज में पारस्परिक आधार पर भिक्षुक, ब्राह्मण, दरिद्र तथा दीनों को ''दान–देना'', उसी प्रकार पूजा–पाठ करना, परोपकार करना, तीर्थयात्रा करना, आदि धर्म माना जाता था। अतएव ये सभी ''मूल्य के धार्मिक तत्व'' कहलाते थे। किन्तु युगीन मान्यताएं आज परिवर्तित हो गयी। लोगों की मानसिकता बदल गयी। अतः आज तो ''संघर्ष ही मूल्य माना जा रहा है। जिस भिक्षुक, दरिद्र या दीन को दान दिया जाता था, उसे आज का समाज संघर्ष परिश्रम करने की चेतावनी दे रहा है।

2. *मूल्य का नैतिक तत्त्व*

नैतिकता से जुड़े आदर्श को मूल्य का नैतिक तत्व माना जाता है। ''नैतिक'' अथवा नैतिकता द्वारा मनुष्य के समस्त सद्‌गुणों का बोध होता है। न्याय, संयम, सहनशीलता, परोपकार, उदारता, ईमानदारी जीवमात्र के प्रति करूणा, कर्तव्यनिष्ठा आदि मानवीय सद्‌गुण नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दों में सत्कर्म सम्बन्धी समस्त सद्‌गुण नैतिक मूल्य अथवा ''मूल्य'' के नैतिक तत्व कहलाते हैं यदि किसी की कोई वस्तु खो गयी है और संयोग से हमें प्राप्त हो गयी है, तो हमें चाहिए कि हम यथाशक्ति पता लगा कर उसकी वह वस्तु उसे दे दें – यह हमारे ''नैतिकता–मूल्य'' के अन्तर्गत आता है।

3. *मूल्य के जैविक तत्त्व*

मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों अथवा जीवन सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताएं : जैसे भूख, प्यास, निद्रा, भय, मैथुन आदि को "मूल्य का जैविक तत्व" कहा जाता है। मनुष्य अपनी भूख, प्यास अथवा सेक्स सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है और करता है, यह उसका जैविक मूल्य है। परन्तु ध्यातव्य है कि उसे कठोर परिश्रम करके मर्यादित रूप से अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति करना चाहिए। जहां पर प्राचीन भारतीय मूल्य अथवा सामाजिक मूल्य "सेक्स" के विषय में बन्धन यौन-वर्जनाओं का प्रतिबन्ध सुनिश्चित किए हैं, वहीं पर वर्तमान व्यक्ति-स्वातंत्र्य सम्बन्धी मूल्य उसे पूर्ण स्वतंत्र कर दिए हैं। महाकवि अज्ञेय कृत "शेखर एक जीवनी" नामक उपन्यास में शेखर को अपनी मौसेरी बहिन "शशि" के साथ रात्रि भर स्वतंत्र विचरण करना - इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

4. *मूल्य का आध्यात्मिक तत्त्व*

आध्यात्मिकता से जुड़े हुए आदर्शो को आध्यात्मिक मूल्य या मूल्य का आध्यात्मिक तत्व कहते हैं। आध्यात्मिक मूल्यों में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की चर्चा नैतिक-जीवन की दृष्टि से की जाती है। जिसका सम्बन्ध बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक से होता है। तात्पर्य यह है कि ये आत्मा की ही वस्तुएं हैं, इन्हें आत्मानुभूति के द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है। "मोक्ष" का सम्बन्ध आत्मानुभूति से है। डॉ0 राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में उचित ही लिखा है कि - "हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य न केवल "रोटी" पर और न अपने काम, पूंजी आकांक्षा या बाह्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध पर जीवित रहता है वह अपने आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के भरोसे जीता रहता है।"

5. *मूल्य का भौतिक तत्त्व*

भौतिकता से जुड़े हुए आदर्शो को "मूल्य का भौतिक तत्व" कहते हैं। भोजन, वस्त्र, भवन एवं समस्त सांसारिक सुख सम्पदा से सम्बद्ध मूल्य "भौतिक मूल्य" के अन्तर्गत समाहित किए जा सकते हैं। हमारे यहॉ का "चार्वाक-दर्शन" तो भौतिक मूल्यों को ही सब कुछ मानता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी भौतिक मूल्यों की अत्यधिक महत्ता मानी है। इसी प्रकार "मूल्य का आर्थिक तत्व", "मूल्य का चारित्रिक तत्व", -"मूल्य का सामाजिक तत्व" तथा "मूल्य का वैयक्तिक तत्व" आदि हैं।

मानव मूल्य के भेद

मूल्यों के भेद के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पुनरपि हम इनकी तार्किक विवेचना करने का प्रयास करेगें। "मूल्य" मूलतः दो प्रकार के होते हैं :-

1. शाश्वत मूल्य
2. युगीन मूल्य

शाश्वत मूल्य

शाश्वत मूल्य वे मूल्य हैं जो देश, काल एवं परिस्थितियों से निरपेक्ष तथा कालजयी होते हैं। ये सर्वदा जीवन्त रहते हैं। जैसे - परोपकार, दया, उदारता, अहिंसा, प्रेम, सत्य, ईमानदारी, न्यायशीलता, मानवतावाद आदि शाश्वत मानव मूल्य हैं - ये कभी पुराने नहीं होते हैं। जिन कृतियों में शाश्वत मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है। वे प्रत्येक युग में महत्वपूर्ण रहते हैं। सूर, तुलसी, कबीर आदि का काव्य इन्हीं शाश्वत मूल्यों के कारण अमर तथा कालजयी है।

युगीन मूल्य

युगीन मूल्य वे मूल्य हैं, जो पारम्परिक तथा कथित मूल्यों से अलग होते हैं। मनुष्य जिन सामाजिक परम्पराओं, आदर्शो एवं मान्यताओं को मानता आया है, जरूरी नहीं है कि हर पीढ़ी उन्हें स्वीकारती या मानती रहे। उदाहरणार्थ – पहले समाज में ''दान-देना'' पारम्परिक आधार पर एक मूल्य था, किन्तु वर्तमान युग में ''आँख मूद कर दान देना हम मूल्य नहीं मानते हैं। आज तो हम ''संघर्ष'' को मूल्य मानते हैं। जिसे पहले दान दिया जाता था, उसे आज का समाज संघर्ष करने की चेतावनी दे रहा है। जैसे – भिक्षुक, ब्राह्मण, दरिद्र और दीनों के प्रति आज लोगों का भाव बदल चुका है। यही ''युगीन मूल्य'' कहा जायेगा।

वैयक्तिक मूल्य

वे मूल्य जो व्यक्ति के निजी हितों एवं व्यक्तिगत सुविधाओं को वहन करें, वे ''वैयक्तिक मूल्य'', ''व्यक्तिवादी मूल्य'' कहलाते हैं। हर व्यक्ति का अपना एक वैयक्तिक जीवन मूल्य होता है। वर्तमान युग में वर्जनाओं का विरोध एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य की तलाश से जुड़े मूल्य जैसे – स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आज वैयक्तिक मूल्य के परिचायक हैं, जबकि यही मूल्य दृष्टि पहले वर्जनाओं की लक्ष्मण रेखा की सीमा में बँधी थी।

सामाजिक मूल्य

वे मूल्य जो समाज की अपेक्षाओं एवं मर्यादाओं से जुड़े हों, वे ''सामाजिक मूल्य कहलाते हैं। हर व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। हर समाज की अपनी मान्यता और आदर्श होता है। जिस आदर्श या मूल्य को समाज में माना

जाता है, वह उस समाज का ''सामाजिक मूल्य'' कहलाता है। उदाहरणार्थ हमारे हिन्दू समाज में किसी व्यक्ति के मृत्योपरान्त अन्त्येष्टि क्रिया, त्रयोदशाह आदि सामाजिक मूल्य हैं। समाज के सभी सदस्य इनका पालन करते हैं।

नैतिक मूल्य

ये वे मूल्य हैं जो नैतिक आदर्शो, पवित्रता, शुभ, औचित्य, कर्तव्य, न्याय आदि से समाविष्ट होते हैं। उदाहरणार्थ – यदि मार्ग में कोई व्यक्ति मोटरसाइकिल से धक्का खाकर पड़ा है और उसका सिर फट गया है। रक्त प्रवाहित हो रहा है। मैं वहां पर संयोगात् पहुंच गयी हूँ तो अपरिचित होने पर भी मेरा नैतिक मूल्य यह कहता है कि उसे किसी तरह से ''प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र'' या किसी डाक्टर के पास ले जाकर, उसका प्राथमिक उपचार कराऊँ! आदि।

इसके अतिरिक्त वैचारिक मतभेद के कारण अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से मूल्यों के भेद निर्धारित किए हैं। अतः कतिपय विद्वानों के मत यहाँ पर उल्लेखनीय हैं।

डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा ने अपने ग्रन्थ – ''नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त'' में मूल्यों के मुख्यतः दो भेद निर्दिष्ट किए हैं। (1) साधन मूल्य और (2) साध्य मूल्य।

साधन मूल्य

उन समस्त वस्तुओं को साधन कहा जाता है जो अपने आप में ''शुभ'' न होकर, किसी अन्य वस्तु के साधन के रूप में ही शुभ होती है। उदाहरणार्थ – भोजन, भवन, वस्त्र, धन-सम्पत्ति तथा अन्य सभी भौतिक वस्तुयें अपने आप में ''शुभ'' नहीं है। वे स्वास्थ्य, जीवन-रक्षा, तथा सुख के लिए आवश्यक साधन मात्र

हैं। इसी कारण इन वस्तुओं से सम्बन्धित सभी मूल्यों को – "साधन-मूल्य" की संज्ञा दी गयी है।

साध्य मूल्य

भौतिक वस्तुओं के विपरीत मनुष्य की कुछ मानसिक अवस्थायें, अपने आप में "शुभ" तथा स्वतः साध्य होती हैं। ये मानसिक अवस्थायें अपने परिणामों के कारण "शुभ" नहीं होती, अपितु ये स्वतः साध्य और अपने आप में वांछनीय होती हैं। ऐसी स्वतः साध्य मानसिक अवस्थाओं को ही "साध्य-मूल्य" कहा जाता है। ये मूल्य परिणाम-निरपेक्ष होते हैं। इनका महत्व अपनी उत्कृष्टता के कारण ही होता है। ये मूल्य व्यक्ति, देश, काल और परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होते हैं। कौन सी मानसिक अवस्थायें स्वयं में शुभ एवं वांछनीय होती हैं इस प्रश्न का कोई निश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर देना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। उदाहरणार्थ – प्लेटो तथा अरस्तू आदि-दार्शनिक "ज्ञान" एवं "चिन्तन" को स्वतः साध्य शुभ मानते हैं, परन्तु कान्ट "शुभ-संकल्प" को अपने आप में शुभ तथा वांछनीय मानता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने "सत्य" "शिव" एवं "सुन्दरम्" को ही स्वतः साध्य मूल्य माना है।

प्राचीन भारतीय मानव मूल्यों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को भी स्थूल दृष्टि से विभाजित किया जा सकता है। "मोक्ष" स्वयं में साध्य है – अतः इसे "साध्य-मूल्य" या सर्वोच्च मूल्य माना गया है। इसी कारण धर्म, अर्थ तथा काम को – "साधन-मूल्य" कहना ही उचित है। पाश्चात्य विद्वान अर्बन ने शारीरिक एवं आर्थिक मूल्यों को प्राथमिकता दी है क्योंकि वे मानवीय जीवन के लिए पूर्णतः आवश्यक हैं, मूल्यों के अन्य वर्ग क्रमशः कम आवश्यक है।[18] हमारे यहां "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" कह कर महाकवि कालिदास ने शरीर को

समस्त धर्मों का प्रथम सोपान माना है। इस प्रकार दार्शनिक मतों का अनुशीलन करने से विदित होता है कि विविध मानव मूल्यों को मोटे तौर पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक पुरूषार्थ-चतुष्टय की धारणा में समाहित किया जा सकता है। इसमें अर्थ एवं काम (Wealth and Pleasure) मानवेच्छा के सहज - स्वाभाविक वैश्विक विषय या मूल्य हैं जबकि धर्म एवं मोक्ष मानवेच्छा के उचित एवं आदर्श विषय या मूल्य हैं। दर्शन का साक्षात् सम्बन्ध उच्चतर मूल्यों (धर्म एवं मोक्ष) से है और इसका लक्ष्य उन्हें अनुभूतिगम्य बनाना है। किन्तु, साथ ही दर्शन दो निम्नतर मूल्यों अर्थ एवं काम की हेयता का तार्किक प्रदर्शन करते हुए उनकी प्राकृत अनिवार्यता स्वीकार करता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन को मानव मूल्यों की समीक्षात्मक व्याख्या कहा जा सकता है।[19]

मूल्य मीमांसा

मूल्य सम्बन्धी तात्विक एवं सामान्य प्रश्नों पर विचार मूल्य मीमांसा कहलाता है। दर्शन परम सत्ता या परम तत्व को जानने का एक प्रयास है। इस परम तत्व के अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार या अस्तित्व पक्ष तत्व मीमांसा है। ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार या ज्ञान पक्ष ज्ञान मीमांसा। इसी प्रकार परम सत्ता के मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार या मूल्य पक्ष मूल्य मीमांसा है। मूल्य क्या है? मूल्यों का क्या स्वरूप है? मूल्यों का मापदण्ड क्या है? किस आधार पर किसी कार्य या वस्तु को मूल्यवान या मूल्यहीन कहा जाता है? विभिन्न वस्तुओं या कार्यों में मूल्य पृथक-पृथक हैं या कोई परम मूल्य है? यदि परम मूल्य कोई है तो उसका स्वरूप क्या है? इत्यादि। यही मूल्य मीमांसा के प्रमुख प्रश्न हैं। मूल्य मीमांसा मे विचारक मूल्य के सम्बन्ध में एक समग्र दृष्टिकोण उपस्थित करता है। मूल्य मीमांसा का विषय मूल्य विशेष न होकर मूल्य सामान्य

होता है। जिसे अंग्रेजी में Value as such कहा जाता है। अर्थात मूल्य मीमांसा किसी कार्य का मूल्य विशेष परिस्थिति या विशेष देशकाल में नहीं आँकती बल्कि सामान्य परिस्थितियों में, सभी देश काल में उसका मूल्यांकन करती है।

मूल्य-मीमांसा की दो प्रमुख शाखायें हैं -

1. नीति-मीमांसा (Ethics) और

2. सौन्दर्य-मीमांसा (Aesthetics)

1. *नीति मीमांसा* (Ethics)

मनुष्य अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठ एक बौद्धिक विवेकशील और नैतिक प्राणी है। नैतिक प्राणी के रूप में उचित अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य, की भावनायें उसके स्वाभाविक गुण हैं, इसे ही व्यक्ति की नैतिक चेतना कहते हैं। दैनिक जीवन में हम प्रायः एक दूसरे के कार्य व्यापारों पर उचित और अनुचित का निर्णय देते हैं। यद्यपि हमारे यह नैतिक निर्णय भिन्न-भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही व्यक्ति एक दशा में सत्य बोलने, हिंसा न करने को पुण्य कहता है और दूसरी दशा में पाप। एक ही कार्य एक दशा में उचित कहलाता है दूसरे में अनुचित। नीति-मीमांसा नैतिकता की औचित्य अनौचित्य की युक्ति संगत व्याख्या करती है। नीति-मीमांसक इस कार्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान (Crieria) स्थापित करते हैं। इस आदर्श के अनुकूल कार्य को उचित या कर्तव्य कहते हैं और प्रतिकूल कार्य को अनुचित या अकर्तव्य।

नीति शास्त्र को अंग्रेजी में एथिक्स कहते (Ethics) हैं। 'एथिक्स' शब्द ग्रीक के एथोस (Ethos) से लिया गया है जिसका अर्थ है चरित्र। इस प्रकार 'एथिक्स' चरित्र का विज्ञान है। 'एथिक्स' का अंग्रेजी पर्यायवाची 'मोरल फिलासफी'

(Moral Philosophy) भी हैं। 'मोरल' शब्द लैटिन भाषा के मोर्स (Mores) से लिा गया है जिसका अर्थ है रीति रिवाज या अभ्यास। इस प्रकार मोरल फिलासफी रीतिरिवाज, प्रचलन या अभ्यास का दर्शन है। आदतें और व्यवहार मनुष्य के चरित्र की अभ्यासगत विशेषताओं या स्थायी विशेषताओं से सम्बन्धित है। आचार या व्यवहार मनुष्य के चरित्र का दर्पण है। इस प्रकार नीतिशास्त्र आदत या चरित्र का शास्त्र है और मनुष्य के चरित्र या आदतों का मूल्यांकन करके उनमें उचित अनुचित या विवेचन करता है।

नीति शास्त्र नैतिक निर्णयों से सम्बन्धित विवेचन है। ये नैतिक निर्णय नैतिक मूल्यों के सूचक हैं। ये नैतिक मूल्य व्यक्ति विशेष या परिस्थिति विशेष के सापेक्ष नहीं बल्कि निरपेक्ष हैं। जो सत् है वह निरपेक्ष रूप से सार्वभौमिक या सर्वव्यापी सत है, वह परम सत् है। 'मूल्य' इसी परम सत् का महत्व पक्ष है। परम सत् निरपेक्ष है अतः मूल्य भी निरपेक्ष, सार्वभौमिक या सर्वव्यापी होना चाहिए।

2. ***सौन्दर्य मीमांसा*** (Aeshetics)

नीति मीमांसा मानव की नैतिक चेतना, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित की मीमांसा है। उसी प्रकार सौन्दर्य मीमांसा मानव की सौन्दर्यानुभूति, सुन्दर-असुन्दर की मीमांसा है। सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्य का स्वरूप क्या है? इसका मापदण्ड क्या है? किस आधार पर किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहा जाता है? क्या हमारे सुन्दर या असुन्दर सम्बन्धी निर्णयों का कोई युक्तिसंगत आधार है? दैनिक जीवन में हम प्रायः प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति के लिए सौन्दर्य सम्बन्धी अपने निर्णय देते रहते हैं। यद्यपि हमारे सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्य या निर्णय भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में या देश कालों में बदलते रहते हैं। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं या

विभिन्न व्यक्तियों में एक को जो वस्तु या व्यक्ति सुन्दर लगता है दूसरे को वह सुन्दर नहीं लगता। कई बार एक ही व्यक्ति जो वर्तमान में सुन्दर लगता है परिस्थितियों एवं देशकाल के परिवर्तित होने पर सुन्दर नहीं लगता। तब क्या सौन्दर्य की कोई सर्वमान्य, सार्वभौमिक, बुद्धिसंगत व्याख्या संभव नहीं है ? क्या सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्य परिवर्तनशील हैं? अथवा क्या सौन्दर्य का कोई सामान्य धर्म या गुण हैं जो सौन्दर्य का हेतु या आधार हैं?

सौन्दर्य मीमांसा का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न सौन्दर्य का सत्य और शिव से सम्बन्ध को लेकर है। क्या सत्य, शिव और सुन्दर में कोई आवश्यक सम्बन्ध है? क्या सुन्दर का सत्य होना आवश्यक है या असत्य भी सुन्दर हो सकता है? क्या सुन्दर में शिव अर्थात कल्याणकारी होना भी निहित है अथवा अकल्याणकारी भी सुन्दर होता है। सुन्दर के साथ सत्य और शिव यानी कल्याणकारी की विवेचना सौन्दर्य मीमांसा की महत्वपूर्ण विवेचना है।

नैतिक मूल्यों की भांति सौन्दर्यात्मक मूल्य भी व्यक्तिगत या देशकाल सापेक्ष नहीं। सौन्दर्यात्मक मूल्य भी सार्वभौमिक एवं निरपेक्ष है क्योंकि नैतिक मूल्यों की तरह ये भी परम सत् के मूल्य पक्ष या महत्व पक्ष के अंग हैं।

नैतिकता, सत्य और सौन्दर्य

मूल्य मीमांसा के अन्तर्गत नैतिकता और सौन्दर्य के मूल्यों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण मूल्य 'सत्य' भी है। भारतीय दर्शन में जीवन का परम लक्ष्य 'सत्य शिव और सुन्दर' के परम मूल्यों की प्राप्ति में माना गया है। इनमें सुन्दर का सम्बन्ध मूल्य मीमांसा की शाखा सौन्दर्य मीमांसा से और 'शिव' का सम्बन्ध मूल्य मीमांसा की शाखा नीति मीमांसा से है। उल्लेखनीय है कि यहां शिव का तात्पर्य

भगवान शिव शंकर से नहीं है बल्कि शिव का अर्थ है कल्याणकारी। सत्य का सम्बन्ध दर्शन की महत्वपूर्ण शाखा तर्क शास्त्र से है। तर्कशास्त्र अब अत्यधिक विकसित हो जाने के कारण एक पृथक विषय के रूप में जाना जाने लगा है।

मूल्य चेतना का विकास

वैदिक संहिताओं एवम् उपनिषदों में विकसित मूल्य दृष्टि :

दर्शन की प्राचीन भारतीय परम्परा दर्शन को आत्मा का विज्ञान या अध्यात्मशास्त्र कहती है।[20] अध्यात्मशास्त्र में दुख और मोक्ष, सत और ज्ञान का समन्वित प्रतिपादन हुआ है। सामाजिक नैतिक जीवन, काव्य और कला तथा लौकिक सुखभोग को अपारमार्थिक मूल्य मनाने के कारण इनका यथेष्ट विवेचन अध्यात्मशास्त्र में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट होता है कि नाना प्रकार और स्तरों के मूल्यों का तुलनात्मक या आपेक्षिक विवेचन एक स्वतन्त्र शास्त्र का विषय नहीं था।[21] किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन भारतीय जन में मूल्यबोध या मूल्यचेतना नहीं थी। भारतीय आध्यात्मिक सांस्कृतिक चिन्तन धारा का संक्षिप्त विहंगावलोकन करने से मूल्य चेतना के अवबोध और विकास की चार अवस्थाएं दृष्टिगत होती हैं। वैदिक सूत्र धर्म को सजीव मानने वाले भावुक, सृजनशील और प्रवृत्ति प्रधान मनुष्य का धर्म है। वैदिक जन विश्वास करते थे कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है और देवता की पूजा स्तुति करने से मनुष्य का कल्याण होता है। अतएव वैदिक जन अधिकांश में वैदिक देवताओं की स्तुति करते थे कि उनके बैल मोटे हों : घोड़े बलवान हों, फसलों की उन्नति हो और उन्हें शत्रुओं पर विजय मिलें।[22] इस प्रकार प्राचीन वैदिक जन जीवन प्रवृत्तिशील, अग्रगामी और संचरिष्णु था। सफल प्रवृत्ति ने एक नियत प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था में विश्वास दृढ़ किया। पूर्व वैदिक युग में इस सहज

सार्वभौम विश्वनियामक व्यवस्था को 'ऋत्' कहा गया। वरूण को ऋत् के गोप्ता के रूप में देखा गया। वरूण का नैतिक व्यवस्था के नियामक का रूप अत्यन्त प्रभावशाली है। ऋतस्यगोप्ता वरूण सार्वभौम विश्व व्यवस्था के नियामक हैं। यह विश्व व्यवस्था के भौतिक पक्ष के साथ ही नैतिक पक्ष को भी नियंत्रित करते हैं। अनिष्ठा और यातना के समय उपासक के साथ रक्षक रूप में रहना, उसे अहं (पाप) से मुक्ति दिलाना, पापी को जलोदर से युक्त कर पीड़ित करना एवं दान्यता उनके नैतिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।[23] वरूण जिस ऋत के संरक्षक हैं, सारा देवमण्डल भी उससे आबद्ध हैं। देवों को ऋत् से उत्पन्न अर्थात ऋत्‌जात कहा गया है। ऋत् की धारणा में जगत की बाह्य दृश्यमान व्यवस्था के गर्भ में स्थित नैतिक नियम की सत्ता को स्वीकार किया गया है। जगत की उत्पत्ति के पूर्व ऋत् विद्यमान था और परिवर्तनशील प्रकृति चक्र ऋत् की ही अभिव्यक्तियां हैं। उषस् का आगमन, सूर्य का चकमना, ग्रहों, नक्षत्रों तथा ऋतुओं की नियमित गति एवं क्रम सब कुछ ऋत् के ही कारण है.। ऋत् का मार्ग ही सदाचार का मार्ग है, जो बुराइयों से अस्पृष्ट यथार्थ पथ है।[24] इस सहज सार्वभौम तात्विक व्यवस्था का आनुकूल्य ही सत्य और मूल्य के रूप में स्वीकृत किया गया। जीवन और उससे जुड़ी हर वस्तु की अर्थवत्ता ऋत् से अनुप्राणित होने पर ही सम्भव थी। यही कारण है कि ईश्वर और ऋषि दोनों ही कवि, द्रष्टा और सृष्टा माने जाते थे।[25] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक जन ऐहिक पदार्थो को प्रार्थनीय मानते हुए भी धी-गम्य ऋत् के प्रकाश को ही वरेण्य मानते थे।[26] धी शब्द के अर्थ में उस वक्त ज्ञान के अतिरिक्त संकल्प का भी अंश विद्यमान था। ज्ञान और कर्म का यह सहज सामरस्य उत्तर वैदिक काल में भंग हो गया और वेदों का सहज स्वाभाविक दर्शन ब्राह्मणों के जटिल कर्मकाण्ड में खोने लगा। कर्मकाण्ड की प्रधानता ब्राह्मण संहिता में है जहां यज्ञ कर्म मनुष्य का प्रधान कर्म माना गया है। किन्तु वेदों में ज्ञान

मार्ग की जो स्फुट बातें जहां तहां बिखरी थी उनसे नित्य और अनित्य की विवेक दृष्टि विकसित हुई और धीरे-धीरे सांसारिक भोगों की असारता और आत्मिक जीवन की पारमार्थिकता का विरोध विचार का विषय बनने लगा।

प्रथमतः हम कठोपनिषद्कार द्वारा प्रतिपादित एक पूर्णतः सुखविरोधवाद का सिद्धान्त देखते हैं। वहां हमें बतलाया गया कि लोक में दो मार्ग हैं एक श्रेयस मार्ग है, दूसरा प्रेयस मार्ग। ये दोनों मार्ग मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य को इनमें से श्रेयस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। जो श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, उसे लक्ष्य सिद्ध उपलब्ध होती है तथा जो प्रेयस मार्ग अपनाता है वह अपने उद्दिष्ट ध्येय से वंचित रहता है। श्रेय और प्रेय में वरूण का प्रश्न उपस्थित होने पर विचारशील मनुष्य उनमें से एक का चयन करता है। प्रज्ञाशील मनुष्य प्रेयस के सम्मुख श्रेयस का चयन करता है और अविवेकी श्रेयस के सम्मुख प्रेयस को चुनता है।[27] कठोपनिषद के दो श्लोक हमें उपनिषदीय युग की श्रेय और प्रेय के अवधारण को सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करते हैं। इसी तरह नचिकेता यम प्रदत्त सुख और वैभव के जीवन का उपहार अस्वीकृत कर देता है। यहां नचिकेता प्रमाणित कर देता है कि वह सामान्य पुरूषों की भांति वैभव-विलास पथानुगामी नहीं प्रत्युत दृढ़ सुखनिरपेक्षवादी है। यह सुखनिरपेक्षवाद कुछ उपनिषदों में पतित हो कर निराशाकूद में परिणित हो गया, जो प्रायः शापेनहावर जैसे कवि, चिंतक का आदर्श है। किन्तु यह नैराश्यमय प्रवृत्ति नचिकेता की सुखनिरपेक्ष वृत्ति के तार्किक परिणाम का अतिचार मात्र है।[28] उपनिषदों में कहा गया है कि यज्ञ से सांसारिक सुख और स्वर्ग जरूर मिलते हैं किन्तु दोनों नाशवान हैं। अतएव मनुष्य को सच्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिए।[29] यह सच्चा सुख मोक्ष अथवा जीवन मृत्यु से निवृत्ति का सुख था। इस

प्रकार श्रेय और प्रेय का भेद आध्यात्मिक आचार दर्शन के मूलमंत्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[30] आत्मज्ञान या मोक्ष को श्रेय तथा इन्द्रिय ग्राह्य अनित्य एवं लौकिक सुख भोग को प्रेय माना गया। इस प्रकार मोक्ष के सामने उपनिषद स्वर्ग, सुख को हीन मानने लगे। तब भी उपनिषदों में सन्यास और निवृत्ति पर बहुत जोर नहीं दिया गया और न ही मोक्ष को केवल दुखाभाव के रूप में प्रतिपादित किया गया है। भौतिक जीवन के परे एक शाश्वत सत्य को देखने और लक्ष्य मानने पर भी उपनिषदों में जीवन को नकारने की दृष्टि बिरल ही पायी जाती है।[31] उपनिषदों के अनुसार आत्मा ब्रह्म है और ब्रहम जगत का उपादान कारण।[32] आत्मा के विरूद्ध या अतिरिक्त कुछ नहीं है।[33] सभी पदार्थ आत्मा से अनुप्राणित और नाम, रूप और कर्म से उपाहित उसी के अंश हैं।[34] विश्व आनन्द से बना है और आनन्द में व्याप्त है।[35] विश्व स्वयं दुखात्मक नहीं है प्रत्युत ''विश्वमिदं वरिष्ठम्'' विश्व सर्वोत्तम वरणीयतम है।[36] फलतः उपनिषदों में दुख की नहीं आनन्द की मीमांसा मिलती है और इसी कारण उपनिषदों में सन्यास और निवृत्ति का उल्लेख भी विरक्त है। बृहदारण्यकोपनिषद हमें बताता है कि प्राचीन तत्व ज्ञानी जब इस बात का अनुभव करने लगते थे कि वैभव-विलास, कीर्ति और संतान से कोई प्रयोजन नहीं, यदि वह शाश्वत मूल्य की ओर नहीं ले जाते। इस प्रकार संतान, कीर्ति एवं वैभव से विकर्षण और शाश्वत मूल्यों के प्रति आकर्षण उन्हें संन्यस्त जीवन की ओर प्रेरित करते थे।[37] ध्यातव्य है कि यद्यपि संन्यस्त जीवन बालकवत् सहज जीवन की अनुसंशा की गयी है तथापि वह केवल असार और तुच्छ ऐन्द्रिक जगत से प्रतिक्रियाजन्य पराड्.मुखता तथा निर्वेद है। बृहद का कथन है कि ''जो आत्म संयम, कर्म-विरक्ति, धीर-सहिष्णु तथा आत्मसंचय का जीवन व्यतीत करता है, वह प्रत्येक वस्तु में आत्मा का ही दर्शन करता है वह दोष-मुक्त, पाप-मुक्त, अशुचि-मुक्त होकर ब्रह्मतत्व का अधिकारी हो जाता है।[38] वह प्रज्ञा

पुरूष आत्म चैतन्य की महक में तर्क बुद्धि का परित्याग कर आत्म विक्रीड़ा एवं आत्मानन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार उपनिषदों में श्रेय एवं प्रेय का स्पष्ट निर्धारण हुआ है और ऐन्द्रिक सुखोपभोग (प्रेय) पर आधिभौतिक अध्यात्मिक मूल्य (श्रेय) को वरेण्य माना गया है। उपनिषदों में मूल्य के लिए ''अर्थ'' शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका नैरूत्तिक अर्थ प्राप्य अथवा गंतव्य है। इसके साथ ही अर्थ शब्द वस्तु भाव अथवा अभिप्राय का भी वाचक बन गया। अर्थ की दो विधायें थीं प्रतीयमान अथवा प्रेयस् और वास्तविक अथवा श्रेयस्। इस अर्थगत द्वंद के सम्मुख मनुष्य को एक का वरण करना आवश्यक है। इसीलिए अर्थ वर अथवा वरेण्य है।[39] यह अर्थ केवल ज्ञान या प्रज्ञा का विषय नहीं है बल्कि संकल्प है। उपनिषदों के अनुसार केवल प्रज्ञा या मेधा से अर्थप्राप्ति संभव नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से श्रेयस केवल ज्ञानगम्य, नित्य सद्रूप है और ज्ञान का स्वरूप आत्मज्ञान और अद्वैतस्फूर्ति है।

वैदिक परम्परा की इस संक्षिप्त रूपरेखा से परिलक्षित होता है कि वैदिककाल में मूल्य अथवा वरेण्य का अवधारण उस ऋतानुकूल आनन्दमयी सृजनात्मकता के रूप में था जिसे मानव अपने में दिव्य प्रेरणा मानता था और जिसके अनुसरण में उसे न केवल अपना जीवन चरितार्थ लगता था अपितु अपनी सर्जनात्मकता में उसे सृष्टि के मूल में स्थित इच्छामय, छन्दोमय, तपोमय व्यापार का अपने दृष्टि स्वर पर स्फुरण उपलब्ध होता है। मनुष्य में कृतित्व का आविर्भाव, उसका दिव्य छन्द से अनुछंदित होकर सष्टा बनना, यही उसके जीवन का चरम मूल्य अथवा वरेण्य पद है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक लोगों का विश्वास मोक्ष सर्वोच्चमूल्य में नहीं था। वे पुनर्भव के क्षय की कल्पना तो करते थे, लेकिन उनका अपुनर्भव स्वर्ग

के दीर्घकालिक प्रवास से समीकृत था सांख्य दर्शन में सर्वप्रथम मोक्ष की धारणा का युक्तिसंगत विचार हुआ। यहां दुःखत्रयाभिघात (आधिभौतिक आद्विदैविक एवं आध्यात्मिक) को परम पुरूषार्थ या सर्वोच्च कर्तव्य माना गया और वह अभिघात भी सीमित नहीं बल्कि ऐकान्तिक है तीनों तापों का समूलतः सार्वकालिक उच्छेद ही मानव अध्यवसाय का चरम साध्य माना गया।[40] यह मोक्ष ही भारतीय जीवन दर्शन का चरम मूल्य है और प्राचीनों के लिए जीवन का एकमात्र सार और एकमात्र लक्ष्य है। मोक्ष और मुक्ति शब्द क्रमशः मोक्ष् और मुच् धातु से व्युत्पन्न हैं जिनका अर्थ है स्वतंत्र होना या छुटकारा पाना। इस प्रकार मोक्ष का अर्थ जीवन मरण चक्र और परिणामतः सभी सांसरिक दुखों से आत्यांतिक निवृत्ति है। मूल्य को प्राचीन भारतीय दर्शन में पुरूषार्थ कहा गया है। भारतीय मनीषा ने पुरूषार्थो के चार रूप स्वीकार किये हैं, यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष धर्म (नैतिक मूल्य), साधन मूल्य है जबकि मानसिक और आध्यात्मिक मूल्य साध्यमूल्य है। धर्म और अर्थ क्रमशः मोक्ष और काम के साधन हैं। अस्तु मानव जाति के सम्मुख दो ही रास्ते हैं – सांसारिक सुखोपभोग का रास्ता एवं निःश्रेयस् या आत्म-कल्याण का रास्ता। इसे ही क्रमशः प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया। ध्यातव्य है कि औपनिषदिक चिन्तक को धर्म, अर्थ और काम आत्यंतिक रूप से संतुष्ट नही कर पाये। नचिकेता और मैत्रेयी का असंतोष इस धारणा की स्पष्ट उद्भावनायें हैं। तत्वद्रष्टाऋषि मोक्ष से कम किसी मूल्य को जीवन का परमशुभ स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उपनिषद दर्शन का लक्ष्य उस स्थिति को प्राप्त करना है जहां जीवन परमतत्व का ज्ञान प्राप्त कर उसके साथ तादात्मय स्थापित कर लेता है। ऐसा व्यक्ति "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की धारणा प्राप्त करता है। उस मानवात्मा के लिए है और चाहिए का द्वैत समाप्त हो जाता है और नैतिक कार्य उसके लिए वैसे हीं सहज बन जाते हैं जैसें सहज क्रियाएं हमारे लिए स्वाभाविक और सहज है। प्री0 हिरियन्ना के

अनुसार भारतीय दर्शन में मूल्यों के अनुसंधान अनुक्रम में मोक्ष का संप्रत्यय विश्व-चिंतन को भारतीय मनीषा की सर्वाधिक मौलिक देन है।[41]

मूल्यों का निर्धारण

मूल्यों का निर्धारण कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर होता है। ये सिद्धान्त मूल्यों के अर्थ एवम् महत्त्व को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। प्रथम सिद्धान्त सुखवादी दृष्टिकोण का है, जो रुचि का सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है, मूल्य इच्छा में निहित होता है और इच्छा की पूर्ति ही हमें सुख एवम् संतुष्टि देती है इसीलिए जिस वस्तु के द्वारा हमारी इच्छा की पूर्ति होती है उसे हम मूल्यवान मानते हैं। भौतिक वस्तुएँ प्रायः भौतिक सुख देती है लेकिन अभौतिक सुखों की प्राप्ति भी मूल्यवान वस्तुओं या विचारों से हो सकती है यद्यपि इसे अलग ही रखा गया है। दूसरा सिद्धान्त पूर्णता का है। पूर्णता केवल ईश्वर में बताई गयी है जैसा आदर्शवादी विचार है। प्रकृतिवादी प्रकृति को पूर्ण मानते है। यथार्थवादी जगत की सभी वस्तुओं को पूर्ण मानते है। प्रयोगवादी व्यक्ति को पूर्ण बनाने में समर्थ मानता है। अस्तु पूर्णता के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण है लेकिन यह सर्वमान्य तथ्य है कि पूर्णता की प्राप्ति एक मूल्य है। आध्यात्मिक मूल्य इन्हीं सिद्धान्तों पर निर्धारित हुए है।'' तीसरा सिद्धान्त उपयोगितावादी है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु, स्थिति, व्यक्ति एवं आदर्श उपयोगी होते है। वे मूल्य रखते है। व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण भी मूल्य का चौथा आधार माना जाता हैं सामाजिक मूल्य का निर्धारण इसी आधार पर होता है। राजनैतिक आर्थिक, सामुदायिक या सामूहिक मूल्य व्यवस्था की दृष्टि से ही बनते है। किसी भी संस्था के निर्माण में जो मूल्य साथ देते है वे इसी व्यवस्थात्मक भित्ति पर बनते है। पाँचवाँ सिद्धान्त अस्तित्व का है। जहाँ रुचि का सिद्धान्त मूल्य करने वाले पर निर्भर करता है। वहीं

इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य का अस्तित्व स्वयमेव मूल्य पर निर्भर करता है। वास्तव में मूल्य बिना अस्तित्व के निराधार केवल गुण या तत्व मात्र नहीं है। वरन् मूल्य स्वयमेव मूल्य है। सत्यं शिवं सुन्दरं स्वयमेव मूल्य माने गये है।मूल्य का छठवाँ सिद्धान्त प्रयोगवादी है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल्य केवल वर्तमान के लिए निर्धारित नहीं होते बल्कि वे भविष्य के लिए भी निर्धारित किए जाते हैं। सम्भवतः धार्मिक एवं शाश्वत मूल्य इसी कारण बने जिनका प्रयोग वर्तमान और भविष्य दोनों में किया जा सके। मनुष्य के सामने दुष्कर परिस्थितियाँ उपस्थित होती ही रहती है और इन परिस्थितियों में उसे व्यवधान और आकुलता भी होती है। इस दशा में उसे कुछ ऐसे मूल्य दिखाई देते है जो उसके व्यवधान और आकुलता को दूर करने अथवा कम करने में सहायक होते है। भारतीय धर्म-परम्परा में ईश्वर-स्मरण, नाम-कीर्तन, सन्त-दर्शन आदि ऐसे चिन्तन को रखा गया है जिनका मूल्य मनुष्य जीवन में होता है। लेकिन यह सर्वमान्य है कि मनुष्य को ऐसी वस्तुओं को चुनता है जिससे उसे लक्ष्य प्राप्त हो सके। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ऐसे धार्मिक मूल्यों का चयन करना पड़ता है जोधर्म--सम्प्रदायों के द्वारा निश्चित होते है। सातवाँ सिद्धान्त अंश और सम्पूर्ण का है। मूल्यों की अनुभूति द्वारा यह सिद्धान्त लागू होता है। अंश और सम्पूर्ण में मूल्यों की अनुभूति स्थितियों पर निर्भर करती है सौन्दर्यात्मक मूल्य इसके उदाहरण हैं, लेकिन धार्मिक एवं सामाजिक मूल्य भी इस सिद्धान्त से सम्बन्ध रखते है। जब कला या संगीत का हम रसास्वादन करते हैं जो उसका सम्पूर्ण मूल्य सामने होता है। समाज के एक अंश रूपमें व्यक्ति अपने कृत्यों की अनुभूति अंश मूल्य के रूपमें करता है। धर्म की आस्था ईश्वर की सम्पूर्णता में होती है जिसके भीतर अंशकालीन होना इसी मूल्य सिद्धान्त का संकेत करता है। अतएव बटलर महोदय का विचार है कि यह सिद्धान्त अधिक मूल्यों का समावेश करता है। आठवाँ सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ तथा

व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्त है। वस्तुनिष्ट सिद्धान्त वैज्ञानिकों की प्रविधियों में पाया जाता है। कुछ विद्वानों की राय में मूल्य कभी कभी परिस्थितियों से सम्बन्धित तथ्य हुआ करते है। इनकी प्राप्ति के लिये समाज के व्यक्ति प्रयत्न करते है। वैज्ञानिक आविष्कारों कामूल्य इसी प्रकार का होता है। व्यक्ति निष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत वैयक्तिक रुचि, इच्छा आवश्यकता, योग्यता आदि मूल्य के निर्धारक तत्त्व होते है। उदाहरण के लिये प्राचीन भाषा का मूल्य है, सांस्कृतिक दृष्टि से यह बहुत आवश्यक हे परन्तु व्यक्ति की निजी इच्छा के अनुसार इसका कोई मूल्य नहीं है।

अन्त में मूल्य का सांवेगिक सिद्धान्त आता है। मनुष्य जीवित प्राणी है, यन्त्र नहीं है कि वह एक ही ढंग से व्यवहार करें। यही कारण है कि व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है, उसके अपने भाव होते हैं जिनके द्वारा वह प्रेरित होकर व्यवहार करता है। यद्यपि मनुष्य के सामने सार्वभौमिक उद्देश्य हुआ करते है और उनको प्राप्त करने का प्रयास भी वह करता है फिर भी अपनी प्रकृति और स्वभाव के कारण प्रत्येक मनुष्य की सावेंगिक क्रियाशीलता प्रत्येक दशा में एक ही नहीं होती है। इस स्थिति में मूल्य निर्धारण में सांवेगिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए कक्षा में छात्रों के विचार, दृष्टिकोण, मनोभाव, विश्वास आदि में अध्यापक और परिस्थिति के कारण परिवर्तन हो जाता है इससे मूल्य निर्माण में अन्तर आजाता है। एक श्रद्धावान छात्र विद्यालय अथवा अध्यापक के कठोर नियन्त्रण एवं व्यवहार से प्रायः उसके प्रति विद्रोही इसी कारण बन जाता है। आधुनिक युग में स्वतन्त्रता के दुरूपयोग, समानता के अनधिकृत प्रयोग आदि से भारतीय जनतन्त्र में जो अव्यवस्था दिखाई देती है उसका आधार मूल्यों के निर्धारण का सांवेगिक सिद्धान्त ही है।

मूल्य की विशेषताएँ

मूल्य की कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नवत् हैं –

मूल्य व्यक्ति निष्ठ होता है। अर्थात् व्यक्ति के विचार अनुसार ही उसके मूल्य निर्धारित होते है। पुण्य की भावना रखने से धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य बनते है, परन्तु यह मूल्य व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित होता है।

मूल्य वस्तुनिष्ठ भी होता है। व्यक्ति से परे स्वतन्त्र स्थिति में मूल्य एक प्रकार का निष्कर्ष माना गया है जो व्यक्ति के द्वारा वातावरण, स्थिति तथा वस्तु विशेष की सहायता से निश्चित होताहै चाहे वह तत्काल के लिए हो अथवा अन्य आगामी समय के लिए हो।

मूल्य केवल अनुभूति के ही रूप में नहीं होता वरन् वह वाह्य वस्तु, विचार, दृष्टिकोण, विश्वास आदि के रूप में भी होता है जो लक्ष्य प्राप्ति में प्रदर्शित सहायक सिद्ध होते हैं।

मूल्य मात्रा एवं परिणाम में अपना भेद प्रदर्शित करते हैं। इनमें स्थायित्व एवं क्षणिकता के साथ-साथ उच्च तथा निम्न का भी बोध कराने की शक्ति होती है।

मूल्य उत्पादन शील एवम् सृजनशील होते हैं जो व्यक्ति को उसके अन्तर्निहित गुणों के आधार पर समाज में प्रतिष्ठा दिलाते हैं।

मूल्य में रूपता तथा पदार्थत्व होता है जैसे ज्ञात और कौशल में क्रमशः यह होता है। मूल्य पहले अर्थ में बौद्धिक अनुशासन सदृश्य होता है, दूसरे अर्थ में

वह स्थूल तत्व से युक्त होता है।पहले अर्थ में ही मूल्य को हम सूक्ष्मीकरण कहते है।

मूल्य स्वयं को मानदण्ड के रूप प्रदर्शित करता है जो नैतिक एवं सौन्दर्यानुभूति के मूल्य से स्पष्ट होते हैं। यह मूल्यांकन एवं निर्णय के रूप में स्वयं सिद्ध करते हुए मनुष्य को उच्चादर्श प्रदान करने का कार्य करते हैं।

मूल्य परिस्थिति जन्य होता है। प्रयोगवादी विचारधारा में शाश्वत मूल्य नहीं होते वरन् सामाजिक मूल्य होते है जो समाज की परिवर्तनशील स्थिति पर निर्भर होने से बदलते भी रहते है। कभी कभी मूल्यों में संघर्ष भी हो जाता है।

मूल्य अनुभव एवं अनुभूति में सहायक होते है। जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से होता है जिससे विभिन्न प्रकार के अनुभव होते है। मूल्य ही इन अनुभवों का कारक होते हैं।

मूल्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जो जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों से सम्बन्धित होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भारतीय जीवन के चार लक्ष्य है जिनकी व्यापकता जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में है और इनसे सम्बन्धित जो मूल्य होते है वे व्यापकता रखते है। यही कारण है कि मूल्य बहुमुखी होते है।

मूल्यों का उद्देश्य

मूल्यों की सार्थकता व्यक्ति को किसी लक्ष्य तक पहुँचाने में है साधारणतया यह प्रश्न उठता है कि हम मूल्यों को क्यों महत्व दें, क्यों हम उन्हें धारण करें अथवा क्यों हम मूल्य का निर्माण करें? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट यही मिलता है कि इनसे कुछ उद्देश्यों की पूर्ति होगी। अतः यह निश्चित है कि मूल्यों का उद्देश्य होता है। ये उद्देश्य निम्नलिखित कहे जा सकते है।

(1) पूर्णता का लक्ष्य – यहतो निश्चय है कि व्यक्ति अपूर्ण होता है। उसको प्रकृति से अपार शक्तियाँ मिली हैं लेकिन वह अपने अनुभव तथा दूसरों के अनुभव से अपनी अपूर्णता को दूर करता है। पूर्णता के दो अनुभाग किए जा सकते हैं। प्रथमतः व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता और द्वितीयतः सामाजिक पूर्णता। दोनों ही प्रकार की पूर्णता की संप्राप्ति के लिए मूल्य को एक आदर्श मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिससे व्यक्ति अशुभ से शुभ को पृथक् करता है तथा शुभ को धारण करता है, "धारणत् इति धर्मः"। मूल्यों का निकष मूल्यांकन है जिससे ईष्वर का अविछिन्न प्रति रूप मानव भी पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है। शुभ का संचयन तथा स्वान्तर्गत ईश्वर की प्रतीति है। व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णत्व की ओर ले जाती है।

यह पूर्णत्व केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक नहीं वरन् सामाजिक भी है। शिक्षा का अर्थ आज समाजीकरण से लिया जाता है, ऐसी दशा में व्यक्ति समाज से अलग होकर पूर्ण नहीं हो सकता। यह समाजीकरण सामाजिक कुशलता प्राप्त करना या सामाजिक पूर्णता प्राप्त करना है। सामजिक कुशलता के अन्तर्गत समाजिक संस्कृति, व्यवसाय, नैतिकता, नागरिकता, स्वास्थ्यपूर्ण जीवन, उत्तम गृहस्थ की सभ्यता, सत्यं, शिवं, सुन्दरं की व्यावहारिकता और समाज में व्यक्ति का एकीकरण भी शामिल है। समाजीकृत व्यक्ति वही है जो समाज की क्रियाओं में अपना पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वहन करे और स्वाधिकारों का सम्यक् उपयोग करे। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त विभिन्न पक्षों के साथ विभिन्न मूल्य जुड़े होते है और उनकी पूर्ण प्रा्प्ति में व्यक्ति के पूर्ण बनने का निहित लक्ष्य होता है।

(2) आत्मानुभूति का लक्ष्य– व्यक्ति की जो शक्तियाँ उसमें निहित है उनकी अनुभूति उसे मूल्यों के द्वारा होनी चाहिए। शिक्षा के मूल्यों में स्वास्थ्य, ज्ञान कला,

मनोरंजन, धर्म आदि से सम्बन्धित मूल्य बताये गये है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष है जिनका सम्बन्ध इन मूल्यों से है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जो समाज एवं प्रकृति के वातावरण में सभी शक्तियों का विकास करती है औरइन शक्तियों के विकास के साथव्यक्ति को अनुभवहोताहै कि उसमें तत्सम्बन्धी मूल्य भी आगए। इसके अलावा प्रत्येक पक्ष के विकास का जो मूल्य होता है उसकी अनुभूति भी व्यक्ति को होती है। यह मूल्य अंतर्निहित होते है, अस्तु इनकी अनुभूति व्यक्ति की अपनी अनुभूति होती है। अतः स्पष्ट है कि मूल्यों का लक्ष्य आत्मानुभूति है। कुछ विद्वान इस लक्ष्य को पूर्णता के लक्ष्य के साथ ही जोड़ते है।

(3) सुखवादी उद्देश्य - इसे रुचि या इच्छा का उद्देश्य भी कह सकते है मूल्यों का सम्बन्ध हमारी इच्छा, रुचि एवं तृष्णा से होता है। इस प्रकार हमारे मूल्य साधारण इच्छा और ज्ञानात्मक इच्छा दोनों होते है। व्यक्ति को जिस क्रिया को करने से सुख या आनन्द की प्राप्ति होती है वह उसके लिए मूल्यवान है। अतः उसी क्रिया में उसका मूल्य निहित होता है। इन मूल्यों का ग्राहण्य वह धार्मिक, नैतिक, सामाजिक सभी कार्यो को करने के पश्चात् प्राप्त सुख एवं आनन्द के आधार पर करता है। जिस कर्म को करने से व्यक्ति को आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूपों में सुखानूभूति होती है उन्हीं मूल्यों को व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक मानता है तथा ग्रहण करता है।

(4) विकास और प्रगति का उद्देश्य- मूल्य का अर्थ सदैव सद् मूल्यों से लिया जाता है यह सत्य है कि सद् विचार उच्चादर्श, उचित वस्तु सदैव व्यक्ति को अग्रगामी बनाते हैं। जीवन विकास पर आधारित होता है और विकास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। समाज व्यक्ति के द्वारा तथा व्यक्ति समाज के द्वारा प्रगति की ओर अग्रसर होता है। इन दोनों ही स्थिति में व्यक्ति एवं समाज के मूल्य

निर्धारित होते हैं जो दोनों को अग्रगामी बनाने में सहायक होते हैं। जिन मूल्यों को ग्रहण करने से किसी राष्ट्र, समाज व्यक्ति की प्रगति होती है, विकास एवं उन्नति होती है, वे सर्वकालिक होते हैं। हमारे शाश्वत मूल्यों के निर्धारण का उद्देश्य भी यही था कि उनको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति आगे बढ़ता।

इस सम्बन्ध में प्रो0 पी0एस0 नायडू के विचार उपयुक्त लगते है उन्होने मानवीय विकास में मूल्यों का एक क्रम दिया है जो इस प्रकार हैः-

इसे देखने से स्पष्ट है कि मूल्य आरोही क्रम से दिए गए है। सबसे नीचे भौतिक मूल्य है और सबसे ऊपर आध्यात्मिक मूल्य है। यह भारतीय परम्परा में रहा है, परन्तु कुछ अन्तर से अन्यत्र भी इसी क्रम का विवरण प्राप्त होता है जिससे विकास और प्रगति का उद्देश्य सिद्ध होता है।
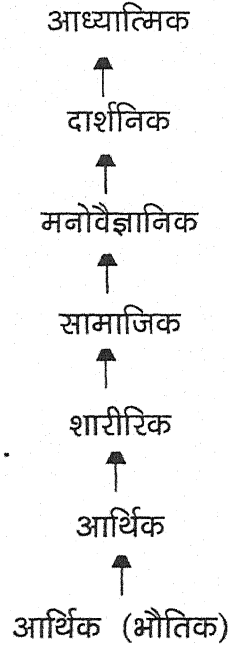
एकीकरण और सम्बद्धता का उद्देश्य- इसका तात्पर्य है कि मूल्य हमें एकता की ओर ले जाते है। प्राचीन समय में धर्म के मूल्य कामहत्व और उद्देश्य

उस परम तत्व से एक करना था, जो जीवन का सर्वोच्च मूल्य था। आज विचार बदल गए है परन्तु लक्ष्य एक ही है। आधुनिक समय में मूल्य सामाजिक सम्बद्धता का लक्ष्य रखते है। डा0 टौलमैन का विचार है कि सभी नैतिक निर्णय ऐसे साधारण सद्गुणों में एकत्र होते है जैसेसत्य बोलना,सम्पत्ति की ईमानदारी, वचन, न्याय आदि का पालन करना। और यदि कोई पूछे कि ये सद्गुणक्यों विकसित किए जायँ? या, इनकी क्या मान्यता है? तो उत्तर सरल शब्दों में यही होगा कि समााजिक कल्याण, सम्बद्धता (एकीकरण), सुविधा, सुख और समरसता के लिए। अगर हम अपने वचन तोड़ दे अथवा अन्याय करें, तो समाज आगे नहीं बढ़ सकता है। साधारण सद्गुण (मूल्य पहियों को सुचार रूपसे चलने के लिए द्रव-पदार्थ से स्निग्ध किये रहते है, जब इनकी उपेक्षा होती है तो समाज का यंत्र विच्छिन्न हो जाता है। वास्तव में नीति का अर्थ ही ऐसी वस्तु है जो आगे ले जावे। अतः नैतिक मूल्य का तात्पर्य एवं उद्देश्य आगे ले जाना होता है जिससे समाज का एकीकरण हो। समाज़ के जीवन में कर्तव्य शब्द यही प्रकट करता है कि किस प्रकार व्यक्ति समाज में एक दूसरे के साथ सहिष्णुतापूर्वक सामुदायिक समरसता के साथ कार्य करते है ये सब सामाजिक मूल्यों के कारण होता है। जिसका लक्ष्य सामाजिक एकीकरण होता है। रीड ने लिखा है, अगर तुम समाज को बिना रूकावट के चलाना चाहते हो तो सद्गुणों (मूल्यों) का पालन करो।

व्यक्तिगत जीवन में भी एकीकरण लाना मूल्यों का उद्देश्य होता है। व्यक्तिगत सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से सामाजिक एकीकरण की अपेक्षा अधिक महत्व रखते है। व्यक्तिगत जीवन मूल्यों का प्रयोग अन्तर-व्यक्तिगत समूहों जैसे मित्रमण्डली, परिवार, शिक्षक-शिक्षार्थी सम्पर्क, में अधिक होताहै। व्यक्ति जिन

मूल्यों का प्रयोग इस प्रकार करता है वे आगे चलकर सामाजिक सम्बद्धता में सहयोग देते है क्योंकि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है।

व्यक्ति में दो पक्ष होते हैं वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक। वैयक्तिक पक्ष के कारण व्यक्ति की व्यक्ति से घनिष्ठता होती है। साधारणतया सभी व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित होते है। क्योंकि वे सभी हैं। यह मूल्यों या गुणों के कारण होता है, लेकिन दूसरी ओर व्यक्ति का अवैयक्तिक पक्ष है, उनके कर्तव्य मूल्यों को प्रभावित करता है अन्यथा वे कर्तव्य परायण नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के विकास मे मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों को उद्घाटित करने से लेकर व्यक्ति को आत्मानुभूति कराना जहाँ मूल्य की शक्ति को प्रदर्शित करता है वहीं व्यक्ति को सुखानुभूति कराकर उसे विकास एवं प्रगति के पथ पर पहुँचाना तथा मनुष्य मात्र को मनुष्य मात्र से प्रेम एवं सौहार्द के साथ जीवन जीने की शिक्षा देना भी मूल्य का उद्देश्य माना गया है। अतः मूल्य का उद्देश्य व्यक्ति को उसके लक्ष्य का ज्ञान कराना माना जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत हिन्दी कोष - वामन शिवराम आप्टे
2. हिन्दी साहित्य कोष
3. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण - प्रोफेसर संगम लाल पाण्डेय, पृ0 303
4. आधुलिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य - डॉ0 हुकुम चन्द्र, पृ0 293
5. डा0 मिश्र, जय शंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बि0हि0ग्रं0 पटना 1980, पृ0 237-239
6. डा0 हिरियन्ना, एम0 इण्डियन कान्सेप्शन आफ वैल्यूज, काव्यालय पब्लिशर्स, मैजूर (1975), पृ0 15-16
7. The Valuation of human nature - herrick, p. 141
8. Community structure and Change, Lowry Nelson, p. 116
9. इनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी Paul Edwards p. 229, Volumes
10. pValues are defined in terms of Survival and enhalment of life - Encyclopaedia britanica, Vol. 22 p. 962
11. G.E. Moore Principal Ethica, p. 56
12. Urban - Reality and Value
13. विलियम आर0एम0 - वैल्यूज इन द स्किल्स एजूकेशनल इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, न्यूयार्क 1968
14. स्प्रेन्गर एफ0 - टाइम्स आफ मैन, एन0 वाई0 हाफ्नट पब्लिशिंग कम्पनी, 1928
15. धर्मयुग - 7 सितम्बर 1969

16. दिनकर जी - साहित्यमुखी, पृ0 56

17. साहित्य कोष, पृ0 659

18. Urban, W.M. - Fundamentals of Ethics, p. 161

19. प्रो0 हिरियन्ना एम0 - द इण्डियन कान्सेप्शन्स आफ वैल्यूज, 1975, पृ0 16

20. शंकर आन वेदान्त सूत्र

21. प्रो0 पाण्डेय, गोविन्द चन्द्रः मूल्य मीमांसा पृ0 683, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1973

22. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय पृ0 125-128

23. भारतीय दर्शन सं0 नन्दकिशोर देवराज द्वि0 सं0 1978 पृष्ठ 42, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ।

24. ऋत् संहिता 10/136/6

25. ईश0 8

26. ऋग्वेद 3,62,10

27. अन्य छेयोऽन्य दुतैत प्रयथ्ते उभे नानर्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्था, उप्रेयो वृणीते।। श्रेयस्च प्रेयस्च मनुष्यगे तस्तो सपशील्य विविनावर्त धीर। श्रेयोहि धीरोडभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो गदो योग क्षेमाद वृणीते। कठ 1,2 1-2

28. उपनिषादिक दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण - आर0डी0 रानाडे (रा0 हि0 ग्र0 अ0) 1971

29. दिनकर रामधारी सिंह - संस्कृति के चार अध्याय पृ0 125-128

30. द्रव्यटव्य कष्ठ 1.2.2

31. प्रो0 पाण्डेय जी0 सी0 मूल्य मीमांसा पृ0 5 रा0 हि0 ग्र0 अ0 1973

32. तैत्ति0 3.1

33. छान्दोग्य0 6.1.4

34. प्रष्टव्य बृह0 1.4.7

35. तैत्ति0 2.7

36. मुडक 2.5.11

37. एतमेव प्राजिनो लोकमिच्छतः प्रवजन्ति। एतद्ध स्म वैतत् पर्वे विद्रूसः प्रजा न कामयन्ते किं प्रजया करिण्यागो येषा जोडयमात्माडयं लोक इति। तेहस्म पुत्रैष्णा याश्च व्युत्थायाथ भिश्नाचर्य चरन्ति। बृह0 IV .22

38. तस्मादेवविच्छातो दान्त उपरवास्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्यात्मान पश्यति। सर्वमात्मानं पश्यति। नैन पाप्मा तरति, सर्व पाप्मान तरति नैन पाप्मा तपति, सर्वपाप्मान. तपति, नैन विपापो विरजोऽविचि कित्सो बह्मणो भवति। बृह0 V 4.23

39. प्रो0 पाण्डेय जी0 सी0 मूल्य मीमांसा पृ0 5-6 रा0 हि0 ग्र0 अ0 1973

40. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : प्रस्तावना डा0 अशोक कुमार राव, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्रथम संस्करण 1973

41. डा0 हिरियन्ना एम0 भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ0 20
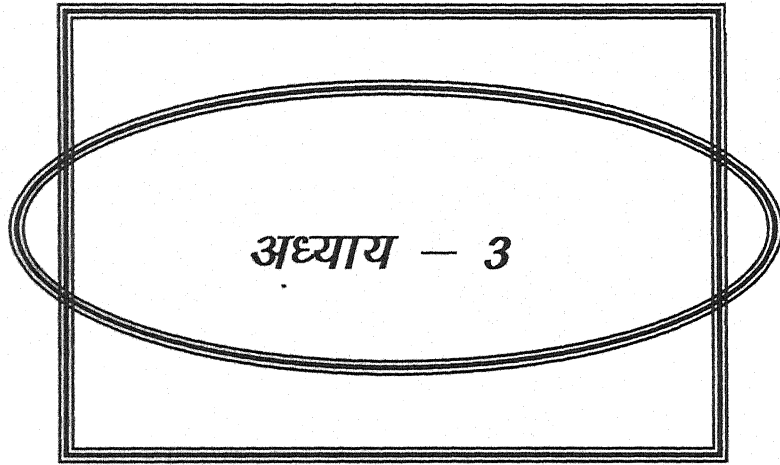
अध्याय – 3

प्राचीन भारतीय नैतिक शिक्षा की वैदिक पृष्ठभूमि

नैतिकता : परिभाषा एवं स्वरूप

'नैतिक' का शाब्दिक अर्थ है 'नीति सम्बन्धी', अतः नैतिक विचारों के अन्तर्गत केवल उन्हीं विचारों का समावेश किया जा सकता है जिनका सम्बन्ध नीति से हो। इस प्रकार नैतिक विचारों को परिभाषित करने का कोई भी प्रयास तब तक सफल नहीं माना जा सकता जब तक कि 'नीति' की परिभाषा और उसकी अवधारणा को पूरी तरह समझ न लिया जाय, अतः नैतिक विचारों को परिभाषित करने के लिए भी प्रयास से पूर्व 'नीति' की अवधारणा का विवेचन यहाँ अभीष्ट होगा।

नीति के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द 'इथिक्स' की व्युत्पत्ति यूनानी 'ता इथिका' से मानी गयी है इनके अर्थ क्रमशः 'चरित्र' और 'प्रथा–परम्परा तथा आदत' बताये गये हैं। इस प्रकार सामान्य तौर पर नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय आचरण से है और वह मानवीय कार्यो के उचित–अनुचित तथा उनकी शुभाशुभ प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार 'इथिक्स' के समानार्थक 'मॉरल फिलासफी' की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'मोर्स' (mores) से मानी गयी है जिसका अर्थ भी प्रथा–परम्परा और आदतें हैं। इस प्रकार 'इथिक्स' की एक सामान्य अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है कि "यह मानवीय आदतों और प्रथाओं अथवा दूसरे शब्दों में मानवीय चरित्र और उन सिद्धान्तों, जिनके तहत लोग आदतन कार्य करते हैं, का अध्ययन करता है और उन सिद्धान्तों के उचित–अनुचित तथा प्रवृत्तियों की

शुभता-अशुभता का मूल्यांकन करता है।''[1] संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र मानवीय आचरण का विज्ञान है।[2]

संस्कृत में 'नीति' की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से मानी गयी है जिसका प्रयोग 'प्रापण' (प्राप्त कराना, आगे ले जाना, नेतृत्व करना, स्थिर करना आदि) के अर्थ में किया जाता है और इसी से 'नय' अथवा 'न्याय' शब्दों को भी उद्भूत माना गया है।[3] सामान्य तौर पर 'नीति' का अर्थ है मानव-व्यवहार का उचित और न्यायसंगत होना और इसी अर्थ में 'नीति' के पर्याय के रूप में 'धर्म' और 'आचार' का प्रयोग भी किया गया है।[4] वैदिक साहित्य में नीति के लिए 'ऋत' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है 'नियम' अथवा 'सुव्यवस्था'।[5] 'त्रिवर्ग' और फिर 'चर्तुवर्ग' के रूप में प्राचीन भारतीय मूल्य विज्ञान का विकास होने के साथ-साथ 'नीति' का सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से जुड़ गया और नीति इन मूल्यों को प्राप्त करने का साधन बन गयी। यही कारण है कि यदि कौटिल्य ने नीति को -अर्थनीति' के रूप में ग्रहण किया तो सुखवादी चार्वाकों ने उसे 'काम' की प्राप्ति का साधन माना, राजनीतिक ग्रन्थों में वह 'राजनीति' हो गयी तो मनु और याज्ञवल्क्य आदि धर्मशास्त्रकारों के लिए वह 'धर्म' ही रही। इस प्रकार मूल्यबोध के अलग-अलग स्तरों पर यद्यपि नीति का लक्ष्य अलग-अलग रहा फिर भी प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नीति साधन स्वरूप रही, यह दूसरी बात है कि लक्ष्यभेद के साथ-साथ उसका रूप भी बदलता रहा। यद्यपि 'नीति' और 'धर्म' पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किए जाते रहे हैं फिर भी उनके बीच एक उल्लेखनीय सूक्ष्म अन्तर भी देखा जा सकता है, नीति हमेशा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन होती है, वह अपने आप में कोई साध्य नहीं होती जबकि पुरूषार्थ-चतुष्टय के एक 'मूल्य' के रूप में 'धर्म' साधन होते हुए भी कभी-कभी

साध्य भी हो जाता है। यही कारण है कि कभी–कभी कोई कार्य नीति के अनुकूल होते हुए भी अधार्मिक हो जाता है और कभी धार्मिक होते हुए भी कोई कार्य अनैतिक हो सकता है।[6] नीति का क्षेत्र 'धर्म' की अपेक्षा संकुचित होता है, और मोटे तौर पर उन दोनों में यही सबसे बड़ा अन्तर बताया जा सकता है। इसके बावजूद भारतीय साहित्य में 'धर्म' और 'नीति' को पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता और इसीलिए प्रायः अधिकांश भारतीय ग्रन्थों में नीति के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग पर्याय के रूप में किया गया है।[7]

मूल्यबोध के साथ नीति के सम्बन्धों के कारण नैतिकता मूल्य–सापेक्ष हो जाती है और मानवीय कार्यो का मूल्यांकन भी उन्हीं मूल्यों के सन्दर्भ में किया जाता है किन्तु सामान्य तौर पर नैतिकता नीति के बृहत्तम अर्थो में सन्दर्भित होती है और उसका उद्देश्य मानवीय चरित्र का निर्माण होता है[8] अतः नैतिकता का सामान्य और सर्वमान्य धरातल मानवीय चरित्र और आचरण के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।[9] नीति और नैतिकता के इस प्राथमिक उद्देश्य को ध्यान में रखकर नैतिक विचारों को परिभाषित करने के प्रयास में कहा जा सकता है कि "मानवीय विचार जगत की समग्रता में केवल उन्हीं विचारो को नैतिक विचार की संज्ञा दी जा सकती है जो व्यक्ति के आचरण और तत्परिणामस्वरूप उसके चरित्र का निर्माण करते हैं" और चूंकि वैयक्तिक आचरणों के निर्माण का मूल उद्देश्य 'व्यक्ति' को 'मानव' की सामाजिकता तक पहुंचाना होता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से एक अच्छे समाज का निर्माण करना है[10] इसलिए प्रकारान्तर से वे सभी विचार जो व्यक्ति की वैयक्तिक स्वेच्छाचारिता को नियंत्रित कर उसके व्यक्तित्व में सामाजिकता का विकास करते हैं, नैतिक विचारों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं[11] और कम से कम इस प्राथमिक स्थिति तक नैतिक विचारो के भारतीय और पाश्चात्य

अवधारणाओं में कोई अन्तर नहीं दिखलाई देता किन्तु इस प्राथमिक समानता के बाद नीतिशास्त्र के उच्चतर उद्देश्यों के प्रति दृष्टिकोणों की भिन्नता के कारण नैतिक विचारों के स्वरूप में अन्तर काफी स्पष्टता के साथ दिखायी पड़ने लगता है जो न केवल भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में ही, बल्कि 'भारतीयता' के कलेवर में ही भिन्न-भिन्न विचारधारा के अनुयायियों के दृष्टिकोणों में भी स्पष्ट हो उठता है और यही कारण है कि नैतिक विचारों का स्वरूप मूल्यबोध के अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग दिखायी देता है और उसका (नैतिक विचारों के स्वरूप का) निर्माण सीधे तौर पर उन मूल्यों की प्राप्ति के साथ सन्दर्भित होकर अपनी यथासम्भव पूर्णता तक जा पहुंचता है। इसी कारण यदि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में वे सभी विचार नैतिक माने जाते हैं जिनसे राज्य के बृहत्तर हितों और उद्देश्यों की पूर्ति की सम्भावनायें हों, भले ही वे छलछद्म, हिंसा और रक्तपात आदि 'अमानवीय' कृत्यों से परिपूर्ण क्यों न हो, तो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक स्थायित्व और गतिशीलता से सम्बन्धित विचार नैतिक माने जाते हैं भले ही उनकी व्यवस्था अपवादस्वरूप आपद्धर्म के रूप में क्यों न करनी पड़ी हो, निवृत्तिमार्गी परम्परा में दम, शम, तप, ब्रहमचर्य और वैराग्य आदि से सम्बन्धित विचारों को नैतिक माना गया है तो प्रवृत्तिमार्गी विचारकों ने यज्ञ, वर्णाश्रम धर्मो के पालन और धर्मपूर्वक सुखोपभोग के प्रति प्रेरित करने वाली सहज स्पृहाओं को नैतिकता की कोटि में रखा है। पाश्चात्य जगत में भी प्लेटो और अरस्तू ने समाज और राज्य के निर्माण को नीति काचरम उद्देश्य मानकर उनके (राज्य व समाज) निर्माण से सम्बन्धित विचारों को नैतिक स्वरूप प्रदान किया तो सुखवादियों ने सुख-मूलक विचारों को, आदर्शवादी विचारकों ने 'आदर्श' को समझने और उसकी प्राप्ति में सहायक विचारों को और भौतिकवादियों ने भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति

अवधारणाओं में कोई अन्तर नहीं दिखलाई देता किन्तु इस प्राथमिक समानता के बाद नीतिशास्त्र के उच्चतर उद्देश्यों के प्रति दृष्टिकोणों की भिन्नता के कारण नैतिक विचारों के स्वरूप में अन्तर काफी स्पष्टता के साथ दिखायी पड़ने लगता है जो न केवल भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में ही, बल्कि 'भारतीयता' के कलेवर में ही भिन्न-भिन्न विचारधारा के अनुयायियों के दृष्टिकोणों में भी स्पष्ट हो उठता है और यही कारण है कि नैतिक विचारों का स्वरूप मूल्यबोध के अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग दिखायी देता है और उसका (नैतिक विचारों के स्वरूप का) निर्माण सीधे तौर पर उन मूल्यों की प्राप्ति के साथ सन्दर्भित होकर अपनी यथासम्भव पूर्णता तक जा पहुंचता है। इसी कारण यदि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में वे सभी विचार नैतिक माने जाते हैं जिनसे राज्य के बृहत्तर हितों और उद्देश्यों की पूर्ति की सम्भावनायें हों, भले ही वे छलछद्म, हिंसा और रक्तपात आदि 'अमानवीय' कृत्यों से परिपूर्ण क्यों न हो, तो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक स्थायित्व और गतिशीलता से सम्बन्धित विचार नैतिक माने जाते हैं भले ही उनकी व्यवस्था अपवादस्वरूप आपद्धर्म के रूप में क्यों न करनी पड़ी हो, निवृत्तिमार्गी परम्परा में दम, शम, तप, ब्रहमचर्य और वैराग्य आदि से सम्बन्धित विचारों को नैतिक माना गया है तो प्रवृत्तिमार्गी विचारकों ने यज्ञ, वर्णाश्रम धर्मो के पालन और धर्मपूर्वक सुखोपभोग के प्रति प्रेरित करने वाली सहज स्पृहाओं को नैतिकता की कोटि में रखा है। पाश्चात्य जगत में भी प्लेटो और अरस्तू ने समाज और राज्य के निर्माण को नीति काचरम उद्देश्य मानकर उनके (राज्य व समाज) निर्माण से सम्बन्धित विचारों को नैतिक स्वरूप प्रदान किया तो सुखवादियों ने सुख-मूलक विचारों को, आदर्शवादी विचारकों ने 'आदर्श' को समझने और उसकी प्राप्ति में सहायक विचारों को और भौतिकवादियों ने भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति

फलतः नीति की उत्पत्ति भय से मानी है किन्तु ऋग्वेद में धर्म और नीति का उद्गम भय नहीं, बल्कि ज्ञान, विश्वास और स्नेह है। ऋग्वेद के देव प्रकाश, ज्ञान, दया, दान आदि नैतिक तत्वों के अधिष्ठान हैं जिनको प्राप्त करने के लिए मानव उनकी ओर उन्मुख होता है।' 'देव विश्व की कल्याणकारी शक्तियों के अधिष्ठान हैं, इस कथन का सामान्यतः अर्थ यह है कि देव शुभ, सत्य, हित आदि के धारक और दाता तथा अशुभ, असत्य, अहित आदि के नाशक और निवारक हैं।'[16] नीति की ऋग्वैदिक अवधारणा पूरी तरह से 'ऋत' के अर्थबोध में समाहित है जिसका व्यवहारपरक अर्थ तो योग्य, सुव्यवस्थित और शुभ माना गया है किन्तु धात्वर्थ अथवा मूल अर्थ 'गति' अथवा 'व्यवस्था' है।[17] विश्व का नियमन और संचालन, यज्ञ की प्रक्रिया और विधान तथा नैतिक आचरण की विधि और पालन ऋत से ही गतिमान और सुव्यवस्थित होते हैं।[18] ऋत के अनुकूल और प्रतिकूल मानव आचरण को विभाजित करने का प्रयास भी ऋग्वेद में दिखायी देता है। 'ऋजु' सत्याचरण का बोधक है तो 'वृजिन्' असत्याचरण का।[19] सूर्य अन्धकार को दूर कर ऊपर बढ़ता हुआ, प्रकाश फैलाता हुआ, मानव के 'ऋजु' और 'वृजिन्' आचरण को देखता हुआ जाता है।[20] इस प्रकार देव मानव के नैतिक आचरण का प्रहरी, दर्शक और उद्बोधक है।

वैसे तो 'देव' की कल्पना ही पुंजीभूत नैतिकता की कल्पना है फिर भी ऋग्वेद में नीति के प्रमुख देवता वरूण माने गये हैं। वरूण की कल्पना सर्वत्र, सर्वज्ञ और मानव के सम्पूर्ण कर्मो के साक्षी के रूप में की गयी है। 'जो अन्तरिक्ष में परियों और समुद्र की नौकाओं का मार्ग जानते हैं, जो दृढ़व्रत बारह महीनों को उनके दिनों के साथ जानते हैं और उस महीने को भी जानते हैं जो पीछे उत्पन्न होता है, जो विस्तृत, शोभन और महान वायु के पथ को और ऊपर आकाश में

निवास करने वाले देवों को भी, जो धृतव्रत, सर्वज्ञ और शोभनकर्मा वरुण अपने प्रासाद में सार्वभोम साम्राज्य के लिए सिंहासन पर बैठते हैं और वहां से जो सर्वदर्शी देव सभी विचित्र और गुप्त घटनाओं को देखते हैं, जो अतीत में हुई और जो भविष्य में होंगी .... तथा जिनसे शत्रु शत्रुता नहीं करते, जनद्रोही जिन्हें पीड़ा नहीं पहुंचा सकते और पापाचारी जिनके सम्मुख पाप नही कर सकते।–[21] वरूण की यह कल्पना और उनके प्रति विश्वास नीति के अन्तर्यामी और अतिरेकी दोनों ही पक्षों की पुष्टि करता है। कोई स्थान अथवा क्षण नहीं है जहां वरूण को उपस्थिति नहीं है अतः उनकी सत्ता में विश्वास रखने वाले के लिए अनीति अथवा पापाचरण का कोई अवसर नहीं।[22] वरूण मूलतः नैतिक व्यवस्था के स्वामी हैं। वे ऋतके अवलम्बन और उसके उद्गम हैं।[23] उन्हीं के ऊपर नीति के सनातन नियम आधारित हैं।[24] वरूण के धर्म (विधि), धामन् (आदेश) और व्रत (नियम) से सम्पूर्ण नैतिक जीवन आच्छादित है।[25] वरूण की इच्छाओं का अतिक्रमण ही अपराध अथवा पाप माना गया है जिसकी चेतावनी अथवा दण्ड के रूप में वरूण मनुष्य के पास रोग को भेजते हैं।[26] नैतिक अपराधों के कारण ही मनुष्य दुःख, रोग व पाप से ग्रस्त होता है किन्तु पश्चाताप और सद्कर्मो द्वारा वरूण की कृपा प्राप्त कर मनुष्य उनसे मुक्त हो जाता है।[27]

वरूण के अतिरिक्त नैतिक जीवन से सम्बन्धित दूसरा ऋग्वैदिक देव 'मित्र' है जिसका उल्लेख वरूण के साथ युगल–रूप (मित्रा–वरूण) में भी किया गया है।[28] मित्र मनुष्य के बहुविध व्यवहार में सत्यभाषण, सौहार्द्र और ईमानदारी का निरीक्षण करते हैं।[29] मित्र सूर्य के ही एक रूप हैं[30] और उनका भौतिक आधार प्रकाश है। सत्य आन्तरिक प्रकाश है, प्रकाश एक प्रकार का ब्राह्य सत्य है। मित्र सत्य और मानव सम्बन्धों के रक्षक हैं।[31]

मित्र और वरूण के अतिरिक्त अग्नि का भी नैतिक आचरण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे नेत्रवान्, शतनेत्र और सहस्रनेत्र हैं[32] और अपने अनगिनत नेत्रों से मनुष्य के कर्मों और गुप्त व्यवहारों को देखते व जानते हैं।[33] उनके चर सर्वत्र व्याप्त हैं[34] और मनुष्य के कर्मो को देखते हैं। वे शक्तिमान ऋत के नेत्र और संरक्षक हैं[35] और मनुष्यों के पापकर्मो को देखते और दण्डित करते हैं। वरूण और मित्र के ध्रूव और 'प्रिय विधान' की अवहेलना करने वालों को अग्निदेव अपन प्रचण्ड ताप से दग्ध करते हैं।[36]

इन प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त इन्द्र, सोम, विष्णु, सूर्य आदि का भी नैतिक आचरण के साथ सम्बन्ध बताया गया है। इन्द्र की कल्पना एक वीरन योद्धा और शक्तिमान राजा के रूप में की गयी है[37] जिनका युद्ध वृत्र जैसे अपरोधक शक्तियों के संहार[38] और राज्य विश्वजनीन व्यवस्था की स्थापना के लिए है।[39] वरूण की तरह इन्द्र भी ऋत के धारक और पालक हैं। 'न देव न मर्त्य इन्द्र के व्रत और धाम की अवहेलना करते हैं और न इन्द्र आदित्य, वसु और रूद्र आतिद के व्रतों की।'[40] अपने धर्म के द्वारा इन्द्र सशक्त और सक्रिय हैं।[41] ऋत के द्वारा ही वे वनस्पतियों और नदियों का विभाजन करते हैं। नदियां उनके व्रत का अनुसरण करती हैं। ऋत के द्वारा ही वे उषा को प्रकाशित करते हैं।[42] सोम ऋग्वेद में स्वयं अमर और अमरत्व प्रदान करने वाले हैं[43] और इसी कारण उनका सम्बन्ध ऋत और नीति से है। सत्यासत्य के द्वन्द्व में सोम सत्य और न्याय का समर्थन करते हैं और असत्य पर प्रहार करते हैं, सत्याचरण को हानि पहुंचाने वाले और वक्रमार्ग का पालन करने वाले का सोम संहार करते हैं।[44] सोम का नैतिक उत्कर्ष मित्र और वरूण के साथ दिखायी पड़ता है।[45] सूर्य की कल्पना भी दूरदर्शी और सर्वनिरीक्षक के रूप में की गयी है।[46] वे मनुष्य के शुभाशुभ कर्मो के साक्षी हैं।[47]

वे मानवों को निष्पाप घोषित करने के साथ ही साथ उन्हें निष्पाप बनाते थी हैं।[48] सूर्य विश्व के व्रत का रक्षण करते हैं। उनके समान चक्र विश्व के अपरिवर्तनीय सनातन नियम का पालन करते हैं। विश्व के विधान में सूर्य केन्द्रीय हैं, वे चराचर की आत्मा है।[49] विष्णु की कल्पना का अधिक विस्तार ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता, किन्तु उनके नैतिक पराक्रम का सार उपलब्ध है। विष्णु दया और करूणा के अवतार हैं। उनका अधिष्ठान उच्चतम परमधाम (गो लोक) है। अपने तीन चरणों (त्रिविक्रम) से वे संसार के लोगों को दुःख से मुक्त करते हैं और पृथ्वी को मनुष्यों के रहने योग्य बनाते हैं।[50] अपने विविध रूपों में वे विश्व के रक्षक और पालक हैं। संक्षेपतः वैदिक मंत्रों में उनका लोकसंग्रही रूप ही दिखायी देता है।[51] रूद्र की संक्षिप्त कल्पना में भी नैतिक तत्वों का समावेश दिखायी देता है। उनके बाह्य विध्वंसक रूप के पीछे विश्व कल्याण की अनन्त करूणा छिपी हुई है।[52] वे भवरोग के आदि महाभिषक् हैं[53] वे विद्युत और वर्षा के साथ अपने झंझावात से संसार के रज तथा रूज को हटांकर शीतल, शान्त और स्वस्थ वातावरण उत्पन्न करते हैं। वे अनिष्टकारी तत्वों को दूर करने वाले और अन्य देवों के क्रोध का निवारण करने वाले हैं।[54] इन देवों के अतिरिक्त ऋग्वेद में वर्णित अन्य सभी देवता और देवियां भी किसी न किसी रूप में ऋत के प्रवर्तक और रक्षक हैं और उनकी कल्पनाओं के द्वारा ऋग्वेद में 'देवतत्व' अथवा 'दैवत' में निहित नीति के कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का पता चलता है जिनमें मुख्य हैं ऋत, सत्य, व्रत, धामन, धर्म, यज्ञ और तप आदि जिनके संक्षिप्त विवरण के बिना नैतिक विचारों के प्राचीन भारतीय स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

ऋग्वैदिक नीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त ऋत की अवधारणा में प्राप्त होता है। सृष्टि के मूल में अन्तर्निहित यह एक ऐसा नियम है जो स्वतः

गतिमान और सर्वत्र वर्तमान है। सम्पूर्ण प्रकृति, देव और मानव जगत पर इसका आधिपत्य है।[55] ऋत के तीन क्षेत्र हैं – सृष्टि-व्यवस्था, नैतिक व्यवस्था और याज्ञिक व्यवस्था।[56] प्रथम क्षेत्र में ऋत सम्पूर्ण सृष्टि का धारण और संचालन करता है। आकाश में ग्रह, नक्षत्र उसी के अनुशासन से अपनी कक्षा में नियमित रूप से सिीति और संचरणशील रहते हैं। देवता उसी की प्रेरणा से अपने विशिष्ट कार्यो को रकते हैं। ऋतुयें उसके क्रम के अनुसार ही परिवर्तित होती रहती है।[57] सृष्टि का एक अंग होने के कारण मानव का आचार-व्यवहार भी ऋत से नियमित और संचालित होता है।[58] मानव और मानव के बीच वही सम्बन्ध क्रियाशील होता है जो ग्रह-नक्षत्रों के बीच। इसलिए मानवता के अस्तित्व व विकास के लिए ऋत का स्वीकरण और पान आवश्यक है।[59] यज्ञ विश्व की सृष्टि-प्रक्रिया का ही एक रूपक है अतः उसके अनुष्ठान के भी नियम उपनियम हैं जिनका ज्ञान और पालन यज्ञ के सफल अभिनय के लिए आवश्यक है।[60] ऋग्वेद में सत्य को ऋत से उद्भूत माना गया है।[61] सत्य का समष्टिगत स्वरूप ही ऋत है और ऋत का विकीर्णित व्यवहारपरक रूप ही सत्य है[62] इसीलिए मनुष्य के विभिन्न व्यवहारों में 'सत्य' का उल्लेख किया जाता है और यम-नियमों में भी उसी की प्रतिष्ठा होती है तथा उसे प्राथमिकता दी जाती है। सत्य सभी पदार्थो और व्यवहारों का सारांश है। मनुष्य के सभी सम्बन्धों और अनुबन्धों का आधार सत्य है।[63] ऋत और सत्य के आधार पर सुव्यवस्थित संकल्पयुक्त आचरण 'व्रत' है।[64] दृढ़ता इसका मुख्य लक्षण है।[65] सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने व्रत पर अडिग रहता है। सभी देवता दृढ़व्रत रहते हैं। 'धामन्' देव का आदेश है जहां से सत्य और व्रत की प्रक्रिया आरम्भ होती है।[66] 'धर्म' वस्तु और मानव का स्वभाव है जो उसके कल्याण के लिए तरह-तरह के विधि नियमों के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह जीवन का उत्पादक और नियामक

दोनों हैं।[67] 'यज्ञ' सृष्टि और जीवन की पूरी प्रक्रिया है। सृष्टि विधान के अन्तर्गत विश्व-कल्याण के लिए जीवन ढालने की पद्धति 'यज्ञ' का अनुष्ठान है।[68] अतः मानव के सभी कर्तव्यों को यज्ञ का रूप दिया गया है। व्यक्तिगत पवित्रता और नैतिक विकास के लिए ऋग्वेद में तपस्या पर भी बल दिया गया है। तप से ही ऋत और सत्य उत्पन्न बताये गये हैं।[69] तप से ही इन्द्र ने स्वर्ग प्राप्त किया था। तप से अलौकिक शक्ति प्राप्त होती थी।

ऋग्वैदिक नीति के उपयुर्क्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि ऋग्वेद काल में नीतिशास्त्र की निश्चित और स्पष्ट अवधारणा नहीं बन सकी थी तथापि मानव आचरण की नैतिकता के प्रति तत्कालीन लोगों की जागरूकता निश्चित रूप से कम नहीं थी। जीवन के मूल्यों से सम्बन्धित चिन्तन यद्यपि अपने ठोस स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सका था फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्कालीन जीवन के मूल्य 'अर्थ' और 'काम' थे जो 'धर्म' से प्रभावित और नियंत्रित थे, यद्यपि पुरूषार्थो के रूप में इन शब्दों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं किया गया है।[70] 'धर्म', 'अर्थ' और 'काम' की समन्वयात्मक पूर्णता के प्रतीक रूप में 'स्वर्ग' की कल्पना की गयी थी जहां देवताओं का निवास माना गया था तथा जो सम्पूर्ण ऐन्द्रिक सुखों की चरम उपलब्धि होने के कारण मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में अवधारित किया गया था।[71] और इसीलिए इसे धर्म अथवा नीति का भी सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार किया गया था।

भारतीय चिन्तन के विकास-क्रम में आगे चलकर धर्म के स्वरूप में परिवर्तन हुआ और उसमें, कर्मकाण्डों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण, जटिलता आने लगी फलतः नीति का स्वरूप भी बदला और उत्तर वैदिक काल तक पहुंचते-पचहुंते

उसका आधार ऋग्वैदिक 'देववाद' से स्थानान्तरित होकर 'वेदवाद' हो गया। वेदमंत्रों के उच्चारण और उनके सहगामी यज्ञों द्वारा विशेष फल प्राप्ति के लिए देवता भी विवश किए जा सकते थे। यज्ञों के प्रकार और उनके अनुष्ठान की अनेकानेक पद्धतियों का निर्माण हुआ और उसमें जटिलता और बहुलता आ गयी।[72] वेदों के विधान ही धर्म, कर्म और नीति के प्रमाण और उनके आधार बन गये। किन्तु कर्मकाण्डों के इस बढ़ते हुए प्रभाव के कारण नीति लुप्त नहीं हुई बल्कि उसका रूप कुछ बदल गया तथा उसका विकास इस कर्मकाण्डीय कलेवर के भीतर से होने लगा।[73] यज्ञों का प्रतीकवाद इस दिशा में किया गया प्रथम प्रयास था। यज्ञ केवल भौतिक अभिनय अथवा प्रदर्शन ही नहीं थे। उन्हें विश्व–प्रक्रिया का प्रतीक मान लिया गया था और विश्व की प्रक्रिया में ऋत, सत्य तथा विश्व के धारण और पालन का विधान निहित था।[74] 'यज्ञ इन्हीं के रूपक थे और यज्ञवेदी इस प्रक्रिया का केन्द्र मान ली गयी। ऋत्विज् इस प्रक्रिया के माध्यम, देवता इसके वाहक और स्वर्ग – सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति की स्थिति – इसके लक्ष्य निर्धारित किये गये। यज्ञ के द्वारा इस प्रक्रिया की स्मृति और भावना जागृत की जाती थी। प्रजापति, विष्णु और इन्द्र यज्ञ के प्रधान देवता थे जो सृष्टि, पालन और प्रलय के अधिपति माने जाते थे। इनके लिए किये गये कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों द्वारा इन्हीं विधाओं का परिशीलन होता था।[75] इससे यज्ञार्थ कर्म करने की परम्परा का सूत्रपात हुआ और निःस्वार्थ भाव से कर्म में प्रवृत्त होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

मानव के उद्देश्यों और सृष्टि–प्रक्रिया में मानव की भूमिका स्थापित करने के प्रयास में सर्वप्रथम ब्राहमण ग्रन्थों में मनुष्य के कर्तव्यों के सिद्धान्तीकरण की चेष्टा की गयी जिसके फलस्वरूप तीन ऋणों और पंचमहायज्ञों का सिद्धान्त हुआ जिनको स्वीकार करने, चुकाने तथा अनुष्ठान करने से मनुष्य विश्व के साथ

अपना समुचित सम्पर्क और सामंजस्य स्थापित करता था। इनके द्वारा अपने सामाजिक सम्बन्धों और कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन होता था। सृष्टि-चक्र के साथ-साथ कर्तव्य-चक्र भी निरन्तर चलता रहता था।[76] यज्ञों का प्रथम उद्देश्य मानव में देवत्व की भावना उत्पन्न करना अर्थात् अपने में देवोचित गुणों का विकास करना था।[77] यज्ञ केवल बाह्याडम्बर नहीं, बल्कि पुण्य और सत्कर्मो के अनुष्ठान थे।[78] ऋत अथवा व्यवस्था का पालन और सत्यभाषण एवं आचरण देवत्व के अभिन्न अंग थे। सत्य धार्मिक व नैतिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों का आधार था। मानवीय कर्तव्यों का इष्टापूर्त्त कर्मो में विभाजन भी ब्राह्मणों के काल में ही किया गया।[79] तीन प्रकार के ऋणों से मुक्ति पाने, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करने और विविध इष्टापूर्त्त कर्मो के सम्पादन तथा जीवन के अन्य उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए सामाजिक जीवन में आश्रम-व्यवस्था का प्रवेश हुआ जिसके माध्यम से व्यक्ति का क्रमिक संस्कार कर उसे अपने सामाजिक कर्तव्यों के पालन में समर्थ बनाने की व्यवस्था भी की गयी। इस आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की एक संतुलित व्यवस्था प्रस्तुत होती थी[80] और इन आश्रमों के बाह्य कर्मकाण्डीय क्रिया-कलापों के भीतर से वास्तविक धर्म और नीति की धारा प्रवाहित थी। कर्मकाण्ड और नीति में संतुलन धर्म की एक विशेषता थी। सभी आश्रमों में सत्य, पवित्रता, पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा, मानव प्रेम, जीवों के प्रति दया अपेक्षित थी, इसके साथ ही साथ चौर्य, हत्या और व्यभिचार आदि के त्याग की भी अपेक्षा की जाती थी।[81] नैतिक जीवन के मूल तत्वों का संरक्षक और संवर्धन इस व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य था।

नीति का स्वरूप कर्मकाण्डों से बुरी तरह प्रभावित हो जाने के कारण बाहर से देखने पर यद्यपि काफी परिवर्तित हो चुका था फिर भी उसके उद्देश्यों में

कोई अन्तर नहीं आ सका था और अभी तक उसकी सर्वोच्च सार्थकता इन कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों के द्वारा अधिक से अधिक ऐन्द्रिक सुख भोगने अथवा स्वर्ग को प्राप्त कराने में ही निहित थी किन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आया और उपनिषदों के काल तक आते-आते चिन्तन के विकास की धारा बाह्य से अर्न्तमुखी हो गयी। जीवन का जो आधार अथवा स्रोत बाहर ढूँढा जा रहा था वह भीतर ही मिल गया। वह था सर्वात्मवाद अथवा ब्रह्मवाद। ब्रह्मानुभूति अथवा आत्मा और ब्रह्म का अभेद ही जीवन का परम लक्ष्य बन गया। यह पूर्ववर्ती सभी लक्ष्यों – धर्म, अर्थ और काम – का अतिक्रमण कर गया और फलतः जीवन तथा नीति का भी चरम लक्ष्य बन गया। यही परमानन्द अथवा मोक्ष है।[82] जीवन और नीति के उच्चतम लक्ष्य के इस परिवर्तन के कारण नीति का स्वरूप भी कुछ परिवर्तित हुआ और उसमें कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञान की प्रधानता स्थापित हुई।[83] ज्ञान के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानकर विश्व की सीमाओं और बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया और नीति जो पहले स्वर्ग प्राप्त कराने का साधन थी, अब मोक्ष प्राप्ति का साधन बन गयी; किन्तु स्वर्ग की प्राप्त जहां कर्मो के बिना असम्भव थी, मोक्ष की प्राप्ति कर्मो के साथ असम्भव थी, अतएव नीति का जो स्वरूप पहले कर्म प्रधान था अब ज्ञान प्रधान हो गया और उसमें कर्मसन्यास की भावना काल हो गयी[84] किन्तु पूर्णतः कर्मसन्यास अथवा कर्मत्याग की अव्यावहारिकता समझते हुए प्राचीन भारतीय विचारकों ने जहां कर्मत्याग का उपदेश दिया है, वहां तुच्छ स्वार्थमय कर्मो को ही त्यागने की बात कही, सम्पूर्ण कर्मो को नहीं।[85] विराग अथवा विरक्ति का तात्पर्य है सांसारिक बन्धन उत्पन्न करने वाले कर्मो से विरक्ति किन्तु साथ ही परमपद अथवा ईश्वर में विशिष्ट अनुरक्ति।[86] इसी प्रकार कामनाओं को त्यागने का अर्थ है स्वार्थमय

कामनाओं का त्याग। यद्यपि उपनिषदों में कहीं–कहीं आत्मानुभूति का साधन 'तप' बताया गया है किन्तु तप का अर्थ वहां आत्मा को शरीर के परावलम्बन से मुक्त कर उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति को बढ़ाना और कठोर चिन्तन द्वारा बुद्धि का प्रदीप्तीकरण बताया गया है।[87] तप के साथ ही साथ दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन आदि का भी उपदेश उपनिषदों में प्राप्त होता है।[88] बुद्धि और आत्मा को मलिन करने वाले विषय–विलास और शरीर को सुखाकर बुद्धि को भी क्षीण कर देने वाली तपस्या के बीच उपनिषदों ने संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया और ईश उपनिषद में उसका अत्यधिक स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होता है।[89] मुण्डक उपनिषद में विषयभोग और काय–क्लेश के अतिवादी मार्गो का विरोध किया गया है।[90] संसार के असंख्य लोगों के दुःख और बन्ध से एक व्यक्ति का मोक्ष एक प्रकार का धार्मिक दम्भ और नैतिक संकीर्णता तथा स्वार्थ है इसलिए उपनिषदों ने लोकसंग्रह के लिए अनासक्ति के साथ कर्म करने का उपदेश दिया है।[91]

उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक कल्याण से ही सम्बन्धित नहीं है बल्कि सामान्य और विशिष्ट कर्मो की आचारसंहिता भी उपनिषदों ने प्रस्तुत की है। 'उपनिषदों में वे सारे कार्य नैतिक माने गये हैं जिनसे मनुष्य रागद्वेष से मुक्त होता है, जहां न्याय और युक्ति की प्रधानता होती है, जहां मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थो का अतिक्रमण करता है, जहां वह अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, जहां लोक मंगल ही प्रेरक शक्ति होता है और जहां व्यक्ति अन्तर्यामी सर्वव्यापी सत्ता द्वारा नियुक्त विश्व–संचालन की योजना में अपने को सहकारी समझता है। इसके विपरीत किये गये सारे कार्य अनैतिक हैं।[92] संयम, दया तथा उदारता बृहदारण्यक उपनिषद में सद्गुण बताए गए हैं।[93] मनुष्य के मन और बुद्धि दोनों को शरीर पर अवलम्बित मानकर आहारशुद्धि में ही सत्वशुद्धि मानी गयी थी

और इसलिए निरामिष शुद्ध भोजन आचार का ही एक अंग बताया गया था। शम, दम, संयम और नियम की व्यवस्था उपनिषदों में प्राप्त होती है किन्तु बलात् और स्वतः संयम में भेद किया गया है। तपस्या और सन्यास में भी अन्तर दिखाया गया है। तपस्या को बलात् संयम और सन्यास को स्वतः संयम माना गया है।[94] व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिए उपनिषदों ने वर्णाश्रम धर्म को साधन बनाया है और वर्णधर्म के द्वारा व्यक्ति के सामाजिक तथा आश्रमधर्म द्वारा उसके वैयक्तिक आचरण को नैतिक बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार यद्यपि उपनिषदों ने कर्म की परम्परा का विरोध नहीं किया है बल्कि उसे नियंत्रित कर व्यक्ति के आचरण को नैतिक बनाने और इस प्रकार उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष का ही प्रयास किया है।[96] तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि 'उपनिषदों नें सामान्य अथवा विशिष्ट नैतिक कर्तव्यों की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल दिया है और उसे ही मोक्ष का प्रधान साधन माना है' किन्तु ज्ञान पर दिया गया उपनिषदों का यह अत्यधिक बल नीति का विरोध नहीं करता। जीवन में ज्ञान और नीति दोनों की ही अनिवार्यता उपनिषदकारों ने स्वीकार की है किन्तु ज्ञान को मोक्ष का मुख्य तथा प्रत्यक्ष साधन मानकर और नीति को गौण तथा अप्रत्यक्ष साधन बताकर उन दोनों का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया गया है।[97] वास्तव में अनैतिक व्यवहार अज्ञान के ही कारण होते हैं। यदि मनुष्य अपने स्वरूप को अच्छी तरह जान ले और विश्व के साथ अपने सम्बन्धों को ठीक-ठीक समझ ले तो अनैतिक कार्य उससे हो ही नहीं सकेंगे। किन्तु उपनिषदों के इस सिद्धान्त का समीकरण सुकरात के सिद्धान्त 'ज्ञान ही सद्गुण है' से नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञान का स्वरूप कम से कम उपनिषदों में सैद्धान्तिक नहीं था। उपनिषदों के ज्ञान की अर्थवत्ता आचारपरक थी। पूर्ण ज्ञान के अभाव में व्यक्ति परम्परा और धर्मशास्त्र के आधार पर अपने कर्तव्यों

का प्रयत्नपूर्वक पालन करता है किन्तु ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर उसके स्वभाव में कर्तव्यबोध आ जाता है और फिर आदेश अथवा प्रयास की उसे कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उपनिषदों के ज्ञान में नैतिक आचरण अन्तर्निहित है।[98] आध्यात्मिक साधना में प्रविष्ट होने के लिए चित्त की शुद्धि और नैतिक आचरण अनिवार्य और साधना में सहायक है।[99] उपनिषदों में उल्लिखित नैतिक गुण केवल त्यागात्मक और निषेधात्मक न होकर क्रियात्मक भी हैं। सुचरित अर्थात् सत्कर्मो का प्रायः उपदेश मिलता है। दान, अतिथि सत्कार और परोपकार की प्रशंसा की गयी है। तपस्या के साथ उसके बदले क्रियात्मक नैतिक आचरण का महत्व उपनिषद स्वीकार करते हैं और सभी प्रकार के सद्गुणों को 'तप' घोषित करते हैं। 'ऋत तप है, सत्य तप है, श्रुति तप है, शान्ति तप है, दान तप है, यज्ञ तप है .....।'[100] उपनिषद व्यक्ति में इच्छा-स्वातन्त्रय को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मो से अपनी आध्यात्मिक स्थिति को प्रभावित करता है।[101]

उपनिषद काल के बाद भारतीय चिन्तन में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग की परम्परायें जो ऋग्वैदिक काल से ही साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं किन्तु कभी-कभी एक के हावी हो जाने से दूसरी दब सी जाती थी, यद्यपि उनमें से कोई भी परम्परा कभी भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई, उपनिषद काल के बाद अपने अन्तर्विरोधों को स्पष्ट कर प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग के रूप में सामने आयीं। उपनिषदों की ज्ञान-मीमांसा ने जहां कर्मकाण्डविरोधी इतरवैदिक धर्मो के भिक्षुपरक दर्शन को समेट कर निवृत्तिमार्गिता को वैदिक मान्यता प्रदान की वहीं दूसरी ओर कालान्तर में जैन तथा बौद्ध धर्मो के आविर्भाव ने इस प्रवृत्ति पर और अधिक बल देकर उसकी वेदबाह्यता के केन्द्रीय महत्व का पुनरूद्धार किया। उपनिषदों द्वारा निवृत्तिपरकता को प्रदान की गयी

वैदिक मान्यता की प्रतिक्रियास्वरूप परम्परागत वैदिक कर्ममार्ग ने कल्पसूत्रों के माध्यम से कर्मकाण्डों को एक सुव्यवस्थित और सुदृढ़ आधार प्रदान किया। कर्मकाण्डों का जनजीवन में प्रभाव वास्तव में उपनिषदों की प्रबल ज्ञानमार्गिता के बावजूद बहुत कम नहीं हो सका था और जनजीवन में उसके प्रचलन और लोकप्रियता के कारण परवर्ती उपनिषदों ने भी कर्मकाण्ड के प्रति आस्था का भाव व्यक्ति किया।[102] किन्तु कर्मकाण्डों का अधिकतम विकास इस काल में कल्पसूत्रों के माध्यम से ही हो सका।[103] निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग के इस कटुतर होते हुए संघर्ष ने अन्य वैचारिक विकल्पों के लिए भूमि प्रस्तुत की और इस प्रकार भारतीय दर्शन की छः विधायें सामने आयीं किन्तु उनकी चर्चा हम यहां न करके प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग के संघर्ष से उत्पन्न दो प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा द्वारा नैतिक विचारों के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा जारी रखेगें। प्रवृत्ति-निवृत्तिमार्गो के इस संघर्ष से प्रसूत विचारधाराओं में प्रथम ने चार्वाक अथवा सुखवादी नैतिकता का सूत्रपात किया जिसकी उत्पत्ति यद्यपि प्रवृत्तिमार्ग के गर्भ से ही हुई थी और संभवतः निवृत्ति-मार्ग की घोर वैराग्यपरकता की प्रतिक्रिया में ही हुई फिर भी यह उल्लेखनीय है कि प्रवृत्तिमार्ग के अन्तर्गत वर्णभेद, यज्ञ और कर्मकाण्डों आदि की इसने कटु आलोचना की[104] और कभी-कभी तो इसकी कटुता निवृत्तिमार्गियों से भी बढ़ जाती थी। इस प्रकार प्रवृत्तिपरक होने के बावजूद इस विचारधारा ने परम्परागत प्रवृत्तिमार्ग से भिन्न अपनी अलग पहचान बना ली थी। किन्तु इसके साथ ही साथ एक दूसरा प्रयास भी सामने आया जो अत्यन्त समझदारी का प्रयास था और जिसने दोनों अतिवादी और एकांकी विचारधाराओं में से उनकी 'अतियों' का निराकरण कर एक व्यावहारिक धरातल पर उन दोनों के समन्वय का प्रयास किया। यह प्रयास कर्म-सम्पादन को जीवन धारण तक अनिवार्य समझ कर

कर्मनिवृत्ति के स्थान पर कर्म में वासना अथवा कामना की 'प्रवृत्ति को निवृत्त' करने का प्रयास था जिसके बीज यद्यपि उपनिषदों में ही बो दिए गये थे[105] किन्तु उसका पूर्ण विकास गीता और महाभारत में सामने आया। भारतीय नैतिक विचारों के विकास की यही उच्चतम अवस्था है जिसमें मानवजीवन की जैविक आवश्यकताओं के निम्नतम धरातल से लेकर सृष्टि-योजना के बृहत्तम परिप्रेक्ष्य में जीवन के उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करने के सूत्र एक ही क्रम में पिरोये हुए हैं और भारतीय परिप्रेक्ष्य में नैतिक विचारों के विकास का एक सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करते हैं।

उपयुर्क्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में नैतिकता का आधार क्या था? स्वरूप क्या था? नैतिक विचारों के विकास का इतिहास क्या था? लोकमानस में नैतिक शिक्षा के समावेशन की विधि क्या थी? और इसमें मन्त्र दृष्टा आचार्यो की भूमिका क्या थी? ये सभी बिन्दु यद्यपि आधुनिक शिक्षा प्रतिमानों के रूप में भले ही संगठित न रहे हों लेकिन तत्कालीन पारम्परिक शिक्षा के माध्यम से इनकी अभिव्यक्ति और संदेश अत्यन्त सशक्त था।

आधुनिक काल में जब हम नैतिक पाठ्यक्रम के संगठन पर चर्चा करते हैं तो पाते हैं कि इनके कतिपय सैद्धान्तिक आधार प्रस्तावित किए गये हैं उदाहरणार्थ नैतिक शिक्षा को एक विषय केन्द्रित पाठ्यक्रम का स्वरूप प्रदान किया जाये। इसके इतर एक दूसरा दृष्टिकोण पढ़ाये जाने वाले समस्त विषयों में नैतिक शिक्षा को एकीकृत पाठ्यक्रम का स्वरूप प्रदान किया जाये। इसके अतिरिक्त एक दूसरा दृष्टिकोण सभी मानवीय क्रियाओं में क्रिया केन्द्रित पाठ्यक्रम का रूप है। इसके अतिरिक्त नैतिक पाठ्यक्रम के स्वरूप और संगठन को लेकर आधुनिक शिक्षा शास्त्री समय-समय पर सार्थक सुझाव प्रस्तुत करते रहे हैं। इस परिधि में जब हम

वैदिक शिक्षा के नैतिक आधार पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते है कि नैतिकता मानव और उसके सामाजिक सरोकारों के ब्रहत्तर सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है। क्योंकि वैदिक आचार्यो ने नैतिकता को मानवीय आचरण का विज्ञान कहा है और लक्ष्य प्राप्ति के लिए नीति को एक सशक्त माध्यम बताया। वैदिक देव मण्डल में सभी देवता और उनके क्रिया कलाप नैतिक आचरण को प्रकट करते हैं जैसे अग्नि, ऋत (नैतिकता और सत्य)। अग्नि, ऋत और नेत्र का संरक्षक है इसी प्रकार सूर्य, इन्द्र, मित्र वरुण विष्णु सभी किसी न किसी रूप में नैतिकता का आचरण करते हैं तथा विश्व को संतुलित रखने का प्रयत्न करते हैं और इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाने वाला क्रिया स्वरूप यज्ञ सृष्टि और जीवन की प्रक्रिया के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यज्ञ सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति का हेतु बताया गया है। त्रिऋण और पंच महायज्ञ वैयक्तिक नहीं वरन् वैश्विक भावना के प्रकटीकरण हैं। सामाजिक व्यवस्था में आश्रम व्यवस्था के प्रवेश के माध्यम से व्यक्ति के अन्दर संस्कारों का समावेश कर उसे सामाजिक कर्तव्यों के पालन में समर्थ बनाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक कालीन देव मण्डल का स्वरूप और चरित्र, उनकी समस्त गतिविधियां और उनके लिए किए जाने वाले सम्पूर्ण कर्मकाण्डों मे नैतिकता का प्रकटीकरण हुआ है।

यह विस्तृत परिप्रेक्ष्य वेद कालीन नैतिकता को विषय केन्द्रित, क्रिया केन्द्रित तथा एकीकृत पाठ्यक्रम जैसे तीनों स्वरूपों को प्रकट करने में सक्षम है।

जहां नीति शिक्षा के माध्यम से लोकरक्षण एवं लोकसंग्रह का उद्देश्य प्रतिपादित किया जाता है वहीं हम इस उद्देश्य को वैदिक सन्दर्भो में ढूढ़ने का प्रयास करें तो पाते हैं कि जहाँ पर मोक्ष सर्वोत्तम मूल्य बताया गया है वहीं पर उपनिषदों के द्वारा इसे कभी–कभी संकीर्णता कहकर खारिज भी किया गया है

क्योंकि यह उपलब्धि नितान्त वैयक्तिक है। वहीं उपनिषदों ने लोक संग्रह के लिए अनासक्ति के साथ कर्म का उपदेश देकर समाज के सम्मुख एक बृहत्तर नैतिक मानदण्ड प्रस्तुत किया है।

जहाँ तक शिक्षा की प्रविधि का प्रश्न है उनमें नैतिक शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तक विधि अथवा चिन्तन मनन विधि की बात की जाती हैं उपनिषदों की मीमांसा से यह प्रतीत होता है कि यहां पर नैतिक शिक्षा के लिए चिन्तन मनन विधि का प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं शास्त्रार्थ के माध्यम से प्रश्नोत्तर विधि का भी पर्याप्त दिग्दर्शन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कथाविधि व्याख्यान विधि, गुणदोष, विवेचन विधि इत्यादि का भी प्रयोग नैतिक शिक्षा को सुस्पष्ट करने के लिए वैदिक वाङ्.ममय में किया गया है। वैदिक कालीन चिन्तन मनन विधि की संस्तुति तो राधाकृष्णन आयोग में भी किया गया है कि "विद्यालय का कार्य कुछ क्षण के लिए मौन से प्रारम्भ हो जिससे छात्र नैतिक नियमों का मनन करना सीख लें।"

उपनिषदों के द्वारा आत्मन् और ब्रहमन् के अद्वैत का ज्ञान ही मोक्ष का साधन है यह कर ज्ञान मार्ग की प्रतिस्थापना किया है जिसके माध्यम से वह गुरू और शिक्षा दोनों की महती आवश्यकता को स्वतः सिद्ध कर दिया है क्योंकि इस अद्वैत के ज्ञान के लिए गुरू की आवश्यकता और इसके लिए साधन स्वरूप शिक्षा की आवश्यकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

जहाँ पर वैदिक वाड्.मय अपने देव मण्डल तथा आचार्यो के माध्यम से नैतिक शिक्षा प्रदान करने का सशक्त प्रयास करता हुआ दिखाई पड़ता है वहीं पर नैतिकता का अनुपालन न करने वाले तथा इस नैतिक अनुशासन को विखण्डित करने वाले देव और मानव को दण्ड देने का भी विधान किया गया है। ऋग्वेद में

अग्नि को सहस्त्र नेत्रा बताया गया है जो इन नेत्रों से मनुष्य के कर्मो और गुप्त व्यवहारों को देखता है तथा वरूण और मित्र (नैतिकता के देवता) के प्रिय विधान की अवहेलना करने वालों को अपने प्रचण्ड ताप से दग्ध कर देता है। इतना ही नहीं यदि वरूण ऋत का अनुपालन छोड़ दे तो वह भी देव मण्डल से अपदस्थ कर दिया जायेगा – ऐसे उद्धरण समाज में नैतिक अनुशासन के स्थापन के चरम मानदण्ड के रूप में प्रदर्शित हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मैकेन्जी, जे0 एस0, ए मैनुअल ऑव इथिक्स, पृ0 1

2. लिलि, विलियम, पूर्वोद्धृत, पृ0 3-4; इथिक्स (नीति) की परिभाषा के लिए और भी देखिए - रोजर्स, आर0 ए0 पी0, शार्ट हिस्ट्री ऑव इथिक्स, लन्दन, 1945, पृ0 1-2, जोड, सी0 ई0 एम0, पूर्वोद्धृत, पृ0 8; अर्बन, डब्ल्यू0 एम0, फन्डामेन्टल्स ऑव इथिक्स, न्यूयार्क, 1930, पृ0 6-8; म्योरहेड, जे0 एच0, 'इथिक्स', इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द 12, पृ0 414; एलेक्जेन्डर, एस0, मॉरल आर्डर एण्ड प्रोग्रेस, (च0 सं0), लन्दन, 1906, पृ0 1; रैलेन्ड, एफ0, इथिक्स, न्यूयार्क, 1893, पृ0 5; मित्रा, ए0 सी0, एलीमेन्ट्स ऑव मॉरल्स, कटक, 1912, पृ0 1; हरमन, ए0 एल0, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन थॉट, न्यू जेरेसी, 1976, पृ0 4; एवरीमैन इन्साइक्लोपीडिया, जिल्द-4, लन्दन, 1978, पृ0 686-684

3. पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पटना, 1965, पृ0 1

4. वही, आत्रेय, बी0 एल0, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, लखनऊ, 1964, पृ0 9

5. जिमरमैन, आर0, 'द इवीडेन्स्स ऑव ऋक् टेक्स्ट्स फॉर द मीनिंग ऑव ऋत' प्रोसीडिंग्स ऑव आल इण्डिया ओरियन्टल कांफ्रेन्स, 5वॉ अधिवेशन, जिल्द-1, लाहौर, 1930, पृ0 214, 217; हिरियन्ना, एम0, आउट लाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, (हि0 अनु0), (दि0 सं0), 1973, पृ0 31; मूर्ति, के0 एस0, द इण्डियन स्पिरिट, वाल्टेयर, 1965, पृ0 186-87

6. उदाहरणार्थ, यज्ञार्थ हिंसा धार्मिक होते हुए भी नैतिकता की सामान्य अवधारणा के अन्तर्गत अनैतिक मानी जा सकती है और नैतिक गुणों, सत्य, अहिंसा आदि को ही धम मानने वाले बौद्ध, जैन आदि सुधारवादी धर्मो के द्वारा ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत हिंसापरक कर्मकाण्डों के विरोध का उद्देश्य इन धार्मिक कृत्यों की अनैतिकता प्रतिपादित करना ही था किन्तु दूसरी ओर किसी की प्राणरक्षा के लिए झूठ बोल देना या हिंसा करना यद्यपि सत्य और अहिंसा जैसे नैतिक गुणों का अतिक्रमण अवश्य है फिर भी उसकी धार्मिकता में कतई संदेह नहीं किया जा सकता।

7. तु0 चन्दावरकर, जी0 ए0, ए मैनुअल ऑव हिन्दू इथिक्स, (तृ0 सं0), पूना, 1925, पृ0 1; सुकठंकर, वी0 एस0, ऑन द मीनिंग ऑव महाभारत, बम्बई, 1975, पृ0 80

8. इडेल, एम0 तथा इडेल, ए0, द रेंज ऑव इथिक्स (सं0) टाइटस, एच0 एच0 तथा कीटॉन, एम0 टी0, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, 1972, पृ0 18; हरमन, ए0 एल0, पूर्वोद्धृत, पृ0 4; एवरीमैन इन्साइक्लोपीडिया पृ0 684

9. तु0, रेलेन्ड, एफ0, इथिक्स, न्यूयार्क, 1893, पृ0 1; मैकेन्जी, जे0 एस0 पूर्वोद्धृत; म्योरहेड, जे0 एच0 पूर्वोद्धृत, पृ0 414

10. देखिये, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द-5, पृ0 511, 'इथिकल आइडियलिज्म'

11. वही

12. एवरीमैन इन्साइक्लोपीडिया, पृ0 684; रून्स, डी0 डी0 (सं0), द डिक्शनरी ऑव फिलॉसफी लन्दन, 1945, पृ0 98-99

13. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 31

14. वही, मैकडानल, ए0 ए0, वैदिक माइथॉलोजी, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, 1974, पृ0 8

15. 'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा' निरुक्त, दैवतकाण्ड, 1.5

16. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 31-32

17. जिमरमैन, पूर्वोद्धृत; पाण्डेय, राजबली (सं0) हिन्दू धर्मकोश, लखनऊ, 1978, पृ0 137; मैकडॉनल, ए0 ए0, वैदिक माइथॉलोजी, पृ0 11; कुन्हनराजा, सी0, द वेदाज, वाल्टेयर, 1957, पृ0 75, 161

18. ब्लूमफील्ड, एम0, द रिलिजन ऑव द वेद, दिल्ली, 1972, पृ0 126; हिरियन्ना, एम0, आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, लन्दन, 1932, पृ0 33; हिन्डरी, रॉड्रिक, कम्परेटिव इथिक्स इन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीशन्स, दिल्ली, 1978, पृ0 50

19. ऋग्वेद, 4.६.17; आर्गन, टी0 डब्ल्यू0 द हिन्दू क्वेस्ट फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, पृ0 209

20. मैकडॉनल, ए0 ए0, वैदिक माइथॉलोजी, पृ0 30; पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास पृ0 32

21. ऋग्वेद, 1.25.7-14

22. हिरियन्ना, एम0, आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी (हि0 अनु0) पृ0 32; मैकडॉनल, ए0 ए0, पूर्वोद्धृत, पृ0 26

23. ऋग्वेद, 1.105.6

24. वही, 2.28.5

25. वही, 2.28.8

26. मैकेन्जी, जे0, हिन्दू इथिक्स, (द्वि0 सं0), दिल्ली, 1971, पृ0 12; ताशिबाना, एस0, द इथिक्स बुद्धिज्म, (पुनर्मुद्रित) लन्दन, 1975, पृ0 28

27. तु0, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द-11, पृ0 580; मैकडॉनल, ए0 ए0, पूर्वोद्धृत, पृ0 26-27; भारतीय नीति का विकास, पृ0 32

28. ऋग्वेद, 1.152.1; 5.72.2; 7.60.5; कुन्हनराजा, सी0, द वेदाज, पृ0 79

29. ऋग्वेद, 7.36.2

30. वही, 5.82.9; मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 30

31. मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 29

32. ऋग्वेद, 1.128.3; 2.2.4; 10.21.7; 10.79.5

33. वही, 8.39.6; तु0, विलियम्स, एम0, रिलिजस थॉट एण्ड लाइफ इन एन्शिएन्ट इण्डिया (पुनर्मुद्रित) कलकत्ता, 1908, पृ0 9-10

34. ऋग्वेद, 4.4.3

35. वही, 5.12.3; 10.8.5;मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 99

36. ऋग्वेद, 4.5.4; तु0, सथ्ये, एस0 जी0; मॉरल च्वॉयस एण्ड अर्ली हिन्दू थॉट, बम्बई, 1970, पृ0 4

37. ऋग्वेद, 1.101.5; 3.4.6.2; 4.19.2; कुन्हनराजा, पूर्वोद्धृत, पृ0 84

38. ऋग्वेद, 1.32.5, 7; 1.80.5, 11; 2.11.9-10; 6.17.9; 10.89.7

39. मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 58-62

40. ऋग्वेद, 3.32.8; 6.21.3; 10.88.11

41. वही, 10.44.1

42. वही, 2.13.7; 6.39.4

43. वही, 5.2.3; 6.37.3

44. ऋग्वेद, 7.104.9, 12, 13

45. ऋग्वेद, 1.93.3

46. वही, 1.50.2; 7.35.8; 10.37.1

47. वही, 1.50.7; 6.51.2; 7.60.2, 61.1

48. वही, 7.60.4; 7.62.2

49. पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ0 37; कुन्हनराजा, पूर्वोद्धृत, पृ0 90

50. ऋग्वेद, 1.154.2

51. ऋग्वेद, 1.154; 6.49

52. मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 77; कुन्हनराजा, पूर्वोद्धृत, पृ0 92

53. ऋग्वेद, 1.43.4; 2, 33.4; ताशिबाना, एस0, पूर्वोद्धृत, पृ0 29

54. वही, 1.114.4; 2.33

55. ब्लूमफील्ड, एम0, रिलिजन ऑव द वेद, दिल्ली 1972, पृ0 26; मजूमदार, आर0 सी0 (सं0) द वैदिक एज, बम्बई, 1971, पृ0 369

56. ऋग्वेद, 7.68.1; हिन्डरी, आर0, कम्परेटिव इथिक्स इन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीशन्स, पृ0 50;मैकडॉनल, पूर्वोद्धृत, पृ0 11

57. कीथ, ए0 बी0, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, (सं0) जे0 हेस्टिंग्स, जिल्द-1, पृ0; बोस, ए0 सी0, ह्विम्न्स फ्रॉम द वेदाज, बम्बई, 1966, पृ0 7; जिमरमैन, पूर्वोद्धृत, पृ0 216

58. ऋग्वेद, 10. 125.5; हिन्डरी, आर0, पूर्वोद्धृत, पृ0 50; जिमरमेन, पूर्वोद्धृत, पृ0 217; राधाकृष्णन, एस0, इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द-1, पृ0 80; वोरा, डी0 पी0, इवोल्यूशन ऑव मॉरल्स इन द इथिक्स, बम्बई 1959, पृ0 184

59. तु0, बोस, ए0 सी0, ह्विम्न्स फ्रॉम द वेदाज, पृ0 7; पाण्डेय, राजबली भारतीय नीति का विकास, पृ0 39

60. तु0, जिमरमैन, पूर्वोद्धृत, पृ0 217

61. "ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्।" ऋग्वेद, 10.190.1

62. देखिए - कीथ, ए0 बी0, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव व वेद एण्ड उपनिषद्स, पृ0 473; बोस, ए0 सी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 8; वेलंकर, एच0

डी0, 'ऋत एण्ड सत्य इन द ऋग्वेद' प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्शन्स ऑव आल इण्डिया ओरियन्टल कांफ्रेंस, बीसवां अधिवेशन, जिल्द–2, भाग–1, पूना, 1961, पृ0 3, 5

63. जिमरमैन, पूर्वोदृधृत, पृ0 220–221; वेलंकर, एच0 डी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 4; मैकेन्जी, जे0, हिन्दू इथिक्स (द्वि0 सं0) दिल्ली, 1971, पृ0 10

64. ऋग्वेद, 3.59; बोस, ए0 सी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 8

65. ऋग्वेद, 1.25.8, 10

66. काणे, पी0 बी0, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र (हि0अनु0), भाग–4, लखनऊ 1973, पृ0 5

67. देखिए, कीथ, ए0 बी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 249; काणे, पी0 वी0, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र (हि0 अनु0), भाग–1, पृ0 3–4; हिन्डरी, आर0, पूर्वोद्धृत, पृ0 5; दास, ·भगवान, द साइन्स ऑव सोशल आर्गनाइजेशन, मद्रास, 1910, पृ0 123; आर्गन, टी0 डब्ल्यू0, द हिन्दू क्वेस्ट फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, ओहियो, 1970, पृ0 211

68. मेरीना, एल0, द कांसेप्ट ऑव तपस् एकार्डिग टू द ऋग्वेद प्रोसीहिडंग्स ऑव ओरियन्टल कांफ्रेंस, 24वॉ अधिवेशन, पूना, 1972, पृ0 230

69. ऋग्वेद, 10.190.1

70. हिन्डरी, आर0, पूर्वोद्धृत, पृ0 48; कुन्हनराजा, सी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 186

71. कुन्हनराजा, पी0, पृ0 165

72. देखिए, द वैदिक एज, पृ0 445-447; पाण्डे, जी0 सी0, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (द्वि0 सं0) लखनऊ, 1976, पृ0 9-10

73. हिरियन्ना, एम0, आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, (हि0 अनु0), पृ0 45-46

74. तु0, बार्थ, ए0, रिलिजन्स ऑव इण्डिया, लन्दन, 1882, पृ0 377; बसु जे0, इण्डिया ऑव द एज ऑव ब्राह्णाज, कलकत्ता, 1969, पृ0 141

75. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 45-46

76. द वेदिक एज, पृ0 449; बसु, जे0, पूर्वोद्धृत, पृ0 137, 220-22

77. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.5.2; 2.8.6; बसु, जे0, पूर्वोद्धृत, पृ0 143

78. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.5.2; तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ का सम्बन्ध सृष्टि-व्यवस्था के साथ स्थापित किया गया है और इसे 'भुवनस्य नाभिः' 'ऋतस्य योनिः' कहा गया है

    तैत्तिरीय ब्राह्मण्ध, 3.9.5.5; शतपथ ब्राह्मण, 1.3.4.16

79. तु0, काणे, पी0 वी0, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द-2, भाग-2 (द्वि0 सं0), पूना, 1974

80. ऐतरेय ब्राहम्ण (33.1) पर सायण के भाष्य में 'आश्रम-चतुष्टयं विवक्षितम्' के आधार पर काणे ने इस मन्त्र को चतुराश्रम व्यवस्था का प्राचीनतम, अस्फुट उल्लेख माना है (देखिए - हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द-2, भाग-1, पृ0 416) किन्त ु जी0 सी0 पाण्डे का विचार है कि इस मंत्र में ब्रह्मचारियों, तपस्वियों और मुनियों का उल्लेख होने के

बावजूद यह किसी स्वीकृत चतुराश्रम व्यवस्था का संकेत नहीं है। वास्तव में धर्मसूत्रों के काल के पहले चतुराश्रम का कोई स्पष्ट और व्यवस्थित उल्लेख नहीं प्राप्त होता फिर भी आश्रम व्यवस्था का प्रारम्भ वैदिउक काल से ही हो चुका था और ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम से प्राचीन वैदिक काल में भी लोग परिचित थे। देखिए - पाण्डे, जी0सी0, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ0 26

81. देखिए - द वेदिक एज, पृ0 49; पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 48

82. पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ0 52

83. यद्यपि ज्ञानमार्ग के बीज ब्राह्मणकालीन अतिकर्मकाण्डीय वातावरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आरण्यकों के काल में ही बो दिए गये थे जब कि कर्मकाण्डों के ब्राह्य अनुष्ठानों के स्थान पर उनके दार्शनिक पक्षों का मनन चिन्तन प्रधान हो गया। फलतः यज्ञों का प्रतीकवाद सामने आया जिसने कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानमार्ग को प्रधानता दिलाने में प्रमुख भूमिका निभायी। तु0, द वेदिक एज, पृ0 451-452; पाण्डे, जी0 सी0, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ0 10

84. तु0, द वेदिक एज, पृ0 501; पाण्डे, जी0 सी0, मूल्य-मीमांसा, पृ0 4; सध्ये, एस0 जी0, पूर्वोदृधृत, पृ0 32, 41; अय्यरन, पी0 एस0 एस0; पूर्वोदृधृत, पृ0 158

85. हिरियन्ना, एम0 आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, पृ0 72; रानाडे आर0 डी0,ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी, (हि0 अनु0) जयपुर, 1971, पृ0 195

86. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोदृधृत, पृ0 56

87. मुण्डक उपनिषद, 1.1.9; तु0, मैरीना, एल0, पूर्वोदृधृत, पृ0 234; बोस, ए0 सी0, पूर्वोदृधृत, पृ0 8

88. छान्दोग्य उपनिषद, 3.17.4; बृहदारण्यक उपनिषद, 5.2.1–3; तैत्तिरीय उपनिषद, 1.9

89. ईश उपनिषद, (1.2) बृहदराण्यक, श्वेताश्वतर और तैत्तिरीय उपनिषदों में "सत्य और नियम दोनों के अनुशीलन का आदेश दिया जाता है, जो सुख के साथ–साथ नैतिक महत्व भी रखते हैं तथा वैभव के साथ–साथ भौतिक मूल्य भी रखते है ---- यह स्पष्ट है कि उपनिषदों के ऋषि भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेय दोनों चाहते थे और अपनी परम आदर्शमूलक शिक्षा देते हुए भी, यह प्रदर्शित करके वे सम्भवतः एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि भौतिक श्रेय के परम श्रेय की कल्पना में महत्वपूर्ण स्थान समझने का मोह एक आदर्शवादी भी पूर्णतः नही छोड़ सकता ----।"

    रानाडे, पूर्वोद्धृत, पृ0 196–197

    बृहदारण्यक उपनिषद, 4.1.1, श्वेताश्वतर उपनिषद, 4.22; तैत्तिरीय उप0, 1.2.1

90. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 57

91. वही

92. वही

93. बृहदारण्यक उपनिषद, 5.2.1–3

94. मुण्डक उपनिषद, 3.1.6; छान्दोग्य उपनिषद, 3.17.4; 4.4.1-5, 6.16.17; प्रश्न उपनिषद, 6.1; तैत्तिरीय उपनिषद, 1.9; हॉपकिन्स, ई0 डब्ल्यू, इथिक्स ऑव इण्डिया, पृ0 64-65

95. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 58

96. पाण्डे, जी0 सी0, मूल्य-मीमांसा, पृ0 6, 8

97. वही

98. वही, पृ0 180

99. मुण्डक उपनिषद, 3.1.5; 3.2.4

100. ''ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं तपो यज्ञास्तपो भूभुर्वः सुर्वब्रह्मैतदुपास्यैतत्तयः।'' महानारायण उपनिषद, 8.1

101. छान्दोग्य उपनिषद, 8.2.10; बृहदारण्यक उपनिषद, 4.4.5; रानाडे, पूर्वोद्धृत पृ0 207, 208

102. मैत्री उपनिषद 4.3; श्वेताश्वतर उपनिषद, 2.7; हॉपकिन्स इ0 डब्ल्यू0, इथिक्स ऑव इण्डिया पृ0 53; हिरियन्ना, पूर्वोद्धृत, पृ0 91-92

103. विस्तार के लिए देखिए - द वेदिक एज, पृ0 502-522

104. देवराज, एन0 के0 (सं0) भारतीय दर्शन (द्वि0 सं0), लखनऊ, 1978, पृ0 152

105. ईश उपनिषद इसका प्राचीनतम स्पष्ट उदाहरण है। ईश उपनिषद, 1.2
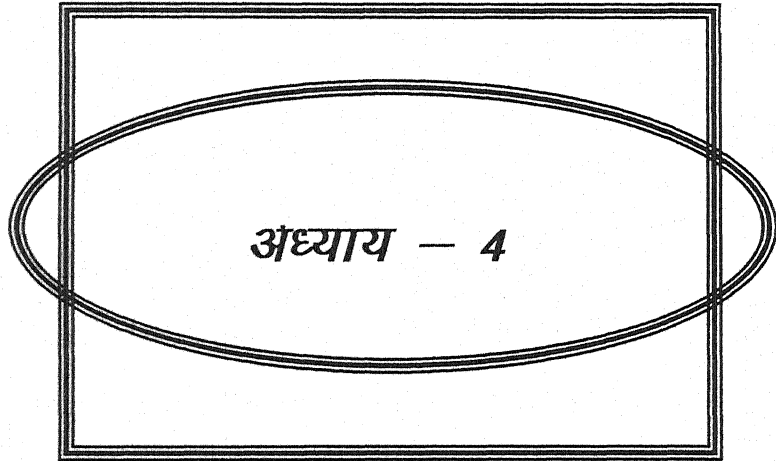
अध्याय – 4

वैदिक मूल्य शिक्षा का महत्तर उद्देश्य – पुरूषार्थत्रयी (साधन मूल्य) के विशेष सन्दर्भ में

पुरूषार्थ :

पुरूषार्थ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – 'पुरूष' और 'अर्थ'। पूः = पुरं, शरीरं च। पुरि शेते इति – पुरूषः। अर्थात् जो शरीर में सोया हो, प्रवेश किया हो, शरीर में अवस्थित हो, उस चैतन्यांश जीव को पुरूष कहते हैं।[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरूष शब्द का यौगिक अर्थ तो जीवमात्र है। किन्तु 'पुरूषत्वे चाविंस्तरामात्मा।' 'पुरूषत्वे च मां धीराः।' 'पुरं पुरूषमात्मवान्।' इत्यादि प्रसंगों में पुरूष शब्द का अर्थ जीव साधारण न होकर मनुष्य अर्थात् नर–नारी होता है। 'पुरूषार्थ' पद में जुड़ा हुआ पुरूष शब्द मनुष्यवाची ही है।[2]

'अर्घ्यते प्रार्थ्यते सर्वैः इति अर्थः' के अनुसार अभिलषित फल को (विषयों को) 'अर्थ' कहते हैं। अतएव 'पुरूषार्थ' का शाब्दिक अर्थ है – 'पुरूषाणां अर्थः पुरूषार्थः।' अथवा 'पुरूषैः अर्थ्यते इति पुरूषार्थः।'[3] अर्थात् अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना ही 'पुरूषार्थ' है। पुरूष का जो मुख्य प्रयोजन है, जिस सुख–साधन को प्राप्त करने की पुरूष आकांक्षा करता है एवं जो पुरूष को अत्यन्त अभीप्सित है तथा जिसकी प्राप्ति हेतु वह सतत प्रयत्नशील रहता है, उसे 'पुरूषार्थ' कहते हैं।[4] भारतीय मूल्य व्यवस्था में चार पुरूषार्थो की गणना की गयी है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। वैदिक वाङ्.मय एवं तदितर समस्त संस्कृत वाङ्. मय में पुरूषार्थ–चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

पुरुषार्थ के सैद्धान्तिक कलेवर में समायोजित भारतीय मूल्य व्यवस्था[6] की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है भौतिक तथा पारमार्थिक मूल्यों के बीच समन्वय। पुरुष की अवधारणा में चूंकि जैविक से लेकर आध्यात्मिक स्तर तक मानवीय चेतना के सभी स्तर समाहित हैं, अतएव जैन मूल्यों से आध्यात्मिक मूल्यों तक की उपलब्धियों की सिलसिलेवार कड़ियाँ आपस में जुड़ती हुई पुरुषार्थ[7] की अवधारणा का एक समग्र रूप प्रस्तुत करती हैं। किन्तु एक विश्लेषणात्मक दृष्टि से पुरुषार्थ चतुष्टय के[8] मूल्यों का यदि वर्गीकरण किया जाए तो वे दो रूपों में सामने आते हैं। प्रथमतः साध्य मूल्य और साधन मूल्य में। इस वर्गीकरण में 'काम' और 'मोक्ष' यदि साध्य मूल्यों की कोटि में आते हैं तो 'धर्म' और 'अर्थ' साधन मूल्यों की। 'अर्थ' 'काम' का साधन है तो 'धर्म' 'मोक्ष' का। किन्तु पुरुषार्थ-चतुष्टय के मूल्यों का एक वर्गीकरण भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में भी किया गया है[9] और इस वर्गीकरण में धर्म, अर्थ और काम की मूल्यत्रयी 'त्रिवर्ग'[10] का निर्माण करती है तो आध्यात्मिक उपलब्धियों के रूप में 'मोक्ष' चतुर्थ वर्ग का।[11]

धर्म :

त्रिवर्ग की मूल्यत्रयी में सर्वप्रथम जिस मूल्य की बात की जाती है, वह है 'धर्म'। प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य में धर्म के नाम से जो कुछ भी ज्ञात होता है उसके आधार पर धर्म की ठीक-ठीक अवधारणा कर पाना यद्यपि अत्यन्त दुष्कर है, तथापि एक मुख्य बात जो 'धर्म' के सभी रूपों में सामान्य रूप से देखी जा सकती हे, वह है धर्म में 'उचित', 'शुभ' और 'श्रेय' का भावात्मक समन्वय अर्थात् जो कुछ भी उचित, शुभ और श्रेयस्कर है वही 'धर्म' है और जो इसके विपरीत है वह 'अधर्म' है।[12]

'धनानि स्रोति, इति धर्मः' अर्थात् जो शक्ति प्राणियों की सुख-समृद्धि के लिए सब प्रकार के धन-धान्य आदि अभीष्ट वस्तुओं के स्रोत उत्पन्न करती है, उसे 'धर्म' कहते हैं।[13] 'धर्म' के लिए 'वृष'[14] एवं 'पुण्य'[15] शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार - "धर्म परम मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक है।"[16] इस प्रकार "धर्म" परम मूल्यों में आस्था ओर जीवन की एक पद्धति है। श्री पी0वी0 काणे ने लिखा है - "धर्म से उनका अभिप्राय किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं, बल्कि जीवन के तरीके या आचरण की एक संहिता से है।"[17] श्री काणे महोदय ने भी "धर्म" को जीवन या आचरण की एक संहिता कहा है।

'धृ' धातु[18] से उत्पन्न[19] धर्म[20] का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है - 'धारण करने वाला'[21]। अर्थात् धर्म वह है जो धारण करता है।[22] महाभारत में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है - "धारण करने से ही 'धर्म' कहा जाता है। अतः जो धारण से युक्त है, वही निश्चित रूप से धर्म है।"[23] इस प्रकार 'धारणपरकता' धर्म का प्राथमिक लक्षण है और इसी रूप में उसकी अवधारणा की जा सकती है। इस अर्थ में ब्रह्माण्ड को धारण करने से लेकर मानव-जीवन को धारण करने तक की विभिन्न स्थितियाँ धर्म की अवधारणा में कई आयाम जोड़ देती हैं। व्यापकतम स्तर पर जो ब्रह्माण्ड को धारण करता है वह भी धर्म है। तथा जो छोटे से छोटे प्राणी को धारण करता है, वह भी धर्म है।[24] प्रथम स्तर पर धर्म ऋत की शाश्वत व्यवस्था की जागतिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे स्तर पर वह प्राणिमात्र की जीवन शक्ति है।[25] धारणता का सीधा सम्बन्ध चूँकि व्यवस्था बनाये रखने से है, अतः प्रकारान्तर से धर्म वह है जो व्यवस्था बनाये रखता है। ऋत के रूप में वह मानव

विश्व व्यवस्था को बनाये रखता है और मानवीय सन्दर्भ में मानव जीवन के विभिन्न पक्षों में समन्वय तथा सामंजस्य बनाये रखते हुए मानव-जीवन की व्यवस्था बनाये रखता है। इस रूप में धर्म कतिपय नियमों और विधि-निषेधों के रूप में सामने आता है, जो मानव में कर्तव्य बोध जगाते हैं।[26] मनुष्य के निजी व्यक्तित्व को व्यवस्थित करने के लिए साधारण धर्म या सामान्य धर्म हैं, तो उसके सामाजिक जीवन की व्यवस्था जाति-धर्म, कुल-धर्म, आश्रम-धर्म आदि के रूप में छोटी-छोटी इकाइयों में मानवीय आचरण को बाँटते हुए तथा इस प्रकार मानव जीवन को व्यवस्थित करते हुए 'धर्म' न्यूनतम से विराट्तम के दो छोरों के बीच मानव जीवन को धारण करता है। धारण तथा अस्तित्व रक्षण के इस प्राथमिक अर्थ में 'धर्म' इस प्रकार प्राणि मात्र की जीवन चेतना है। किन्तु मानवीय सन्दर्भ में धर्म की यह प्राथमिक अवधारणा कुछ और विस्तृत हो जाती है और वह बुद्धि अथवा विवेक के रूप में मानव की वह विशेषता बन जाती है, जो प्राणि-जगत् में उसकी विशिष्टता स्थापित करती है।[27] अपनी इस विशेषता के कारण मनुष्य अलग-अलग सन्दर्भो में धर्म की अलग-अलग अवधारणाएं विकसित कर लेता है। 'धर्म' के कारण ही वह प्राणि मात्र में विशिष्ट है और धर्म ही उसकी इस विशष्टिता को व्यावहारिक अभिव्यक्ति देता है, उसकी क्रियात्मकता का प्रेरणा-स्रोत बनकर। अतः धर्म वह भी है, जो मनुष्य को किसी ('कर्म' की) ओर प्रेरित करे, अर्थात् – 'चोदना लक्षणोअर्थो धर्मः'।[28] इस प्रकार धर्म प्राणी के रूप में मनुष्य के अस्तित्व को तो धारण करता ही है, प्राणि-जगत् में विशिष्टता-स्थापन्न के द्वारा उसे परिभाषित भी करता है। धर्म के कारण ही मनुष्य कर्मप्रधान प्राणी बनता है और कर्म से ही चूँकि भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और कर्म 'धर्म' से अभिन्न है,[29] अतः वैशेषिक सूत्र के अनुसार 'धर्म वह है जो अभ्युदय[30] अर्थात् सांसारिक उपलब्धि और 'निःश्रेयस्'[31] अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति

कराए।'[32] इस तरह अपनी व्यापकतम अवधारणा में 'धर्म' इहलोक और परलोक की सीमाओं को तोड़ता हुआ ब्रह्माण्ड की व्यवस्था से अपने को जोड़ लेता है तो प्राथमिक अर्थ में प्राणिमात्र के अस्तित्व-रक्षण तक ही सीमित रहता है और इन दोनों स्तरों के बीच उसके विविध रूप देखे जा सकते हैं।[33]

धर्म की उपर्युक्त अवधारणा के ऐतिहासिक विकास पर यदि दृष्टि डाली जाए तो उसके प्रारम्भिक सूत्र ऋग्वेदकालीन ऋत[34] की अवधारणा के साथ जुड़े हुए दिखाई देते हैं। यद्यपि ऋग्वेद में 'धर्म' और 'धर्मन्' शब्दों का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि ये शब्द 'ऋत' के सन्दर्भ में ही अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं।[35]

ऋग्वेद में ऋत के तीन चरण[36] बताये गये हैं। ऋत का प्रथम चरण सृष्टि के कार्य-व्यापारों को संचालित करता है।

ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्ध में यज्ञों के बढ़ते हुए प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में ऋत का दूसरा चरण यज्ञों के साथ जोड़ दिया गया है।[37] यज्ञ चूँकि सृष्टि का मूल स्रोत माना गया है।

ऋत का तीसरा चरण मानव जीवन के साथ सन्दर्भित होकर सामने आता है। जिस प्रकार विभिन्न ग्रह एक ऋत के कारण पारस्परिक रूप में आबद्ध होते हैं, उसी प्रकार मानव-मानव भी आपस में एक-दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच भी वही नियम काम करता है, जो ग्रहों और नक्षत्रों के बीच। ऋत के परस्पर सम्बन्धों के विकास का आधार होने के कारण ही व्यक्ति सामाजिक विधान बनाने की ओर अग्रसरित हुआ एवं परिणाम स्वरूप उसका अभिव्यक्तिकरण सामाजिक विधान के रूप में हुआ।[38]

ऋत के इस अवधारणात्मक विवेचन के बाद यदि हम धर्म की अवधारणा पर दृष्टिपात करें तो वे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। वास्तव में ऋत की अवधारणा ने कालान्तर में धर्म के रूप में ही आगे की यात्रा की।[39] ऋत का क्षेत्र सृष्टि और प्रकृति के कार्य-व्यापारों तक ही सीमित रह गया और मानव-जगत् के सन्दर्भ में उसका स्थानापन्न 'धर्म' हो गया जिसने धारणपरकता के सम्पूर्ण तत्व अपनी अवधारणा में समो लिए और इस प्रकार अपनी एक विशिष्ट अर्थवत्ता प्राप्त कर ली। एक ओर यज्ञीय-विधि-नियमों के रूप में उसने अपने को ऋत का स्थापन्न बनाकर प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर मानव-जीवन और जगत् की सत्यता (सत्ता) बनाये रखने के लिए मानवीय आचरण के नियन्त्रक का रूप ग्रहण किया।[40] वस्तुतः "प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित ढंग में थी। नियन्त्रण के नियम थे। प्रत्येक देवता अपने निश्चित कार्य करते थे। इस प्रकार की प्रत्येक व्यवस्था एवं नियम ही ऋत थें।"[41]

मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए वैदिक शिक्षा ने धर्म की समेकित तथा बहुआयामी उद्भायना का विकास किया है, जिसमें सामान्य धर्म[42] यदि मनुष्य की सामाजिक प्रस्थिति, आयु, वर्ग, जाति अथवा अन्य किसी भी भेद से परे, उसके वैयक्तिक व्यक्तित्व के विकास का आधार प्रस्तुत करते हैं तो विशिष्ट धर्म वर्ण-धर्म, देश-धर्म, कुल-धर्म, जाति-धर्म, श्रेणी-धर्म आदि कोटियों में विभाजित होकर[43] देश, काल और सामाजिक स्थिति के अनुसार व्यक्ति के लिए कर्तव्याकर्तव्य कर्मो की श्रृंखला[44] का निर्माण करते हैं।[45] मनुष्य चूँकि प्राथमिक तौर पर एक व्यक्ति होता है और उसका निजी व्यक्तित्व ही विकसित होकर उसे 'सामाजिक प्राणी' का रूप प्रदान करता है, अतः सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। सामान्य धर्म विशिष्ट धर्म के विकास की प्राथमिक शर्त है, क्योंकि वही एक 'जैविक प्राणी' को मनुष्य बनाता है और वह

मनुष्य ही अपनी प्रवृत्तियों और क्षमताओं के औदार्यीकरण द्वारा समाज का निर्माण करता है।[46] स्पष्ट है कि "जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिसके द्वारा हमारे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है, वह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।"[47]

सामान्य धर्म[48] के अन्तर्गत जिन गुणों का समावेश किया गया है, उसमें 'सत्य'[49] का प्रथम स्थान है, जिसका महत्व, जैसा कि हमने पूर्व में देखा है, ऋत से अभिन्न होने के कारण ऋग्वैदिक काल से ही स्थापित हो गया था। सत्य के अतिरिक्त जिन नैतिक गुणों की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है, उनमें अहिंसा, दया, तप आदि की चर्चा उपनिषदों में प्राप्त होती है, जो नैतिक गुणों की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सर्वप्रमुख स्थान रखते हैं। वास्तव में उपनिषदों के पूर्व वैदिक साहित्य में कार्यकाण्डों और क्रियानुष्ठानों से सम्बन्धित अंशों की अत्यधिक उपलब्धता ने इन नैतिक सद्गुणों के लिए बहुत कम अवकाश छोड़ा था और यद्यपि उनका सर्वथा अभाव भी इन ग्रन्थों में नहीं मिलता, तथापि उपनिषदों के आध्यात्मिक दर्शन ने धर्म के नैतिक स्वरूप को उभारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।[50] मोक्ष के वैयक्तिक स्तर पर ही प्राप्य घोषित करने वाले औपनिषदिक दर्शन में वैयक्तिक चरित्र के उत्कर्ष को उसका एकमात्र साधन सिद्ध किया गया था, जिसका प्रभाव हुआ वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए साधनभूत नैतिक गुणों का 'धर्म' के रूप में अभ्युदय, जिसने कालान्तर में व्यक्ति समाज द्वन्द्व के विकास के साथ ही स्वयं को 'सामान्य धर्म' बनाकर 'विशिष्ट धर्म' से एक ओर तो अपना पार्थक्य स्थापित किया, किन्तु दूसरी ओर उसके साथ अपनी अभिन्नता भी बनाये रखी।

सामान्य धर्म के समवेत रूप में नैतिक गुणों का अगला विस्तार महाभारत में देखा जा सकता है जिसमें न केवल नैतिक धर्मो की संख्या में ही वृद्धि की गयी है, बल्कि इन सभी गुणों की परस्पर–निरर्भरता इस प्रकार स्थापित की गयी है कि यदि एक धर्म का भी पूरी तरह से पालन कर लिया जाए तो अन्य धर्मो का पालन स्वयमेव हो जाएगा। उदाहरणार्थ शान्ति पर्व में वर्णित सामान्य धर्मो की सूची में[51] 'सत्य' का महत्व बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि "सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योंकि सत्य ही जीवों की परमगति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है और सभी कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।"[52]

भारतीय ग्रन्थों में नैतिक गुणों के अभाव को, अनैतिक गुणों को 'अधर्म' की संज्ञा दी गयी है।[53] महाभारत में क्रोध, अज्ञान, मोह, ईर्ष्या, लोभ, मद, मात्सर्य आदि बारह प्रकार के अनैतिक गुणों का उल्लेख है।[54] इसी प्रकार सत्य, अहिंसा,[55] अचौर्य (चोरी न करना), दम, शौच, क्षमा आदि गुण[56] सभी व्यक्तियों के चरित्रोत्थान की दृष्टि से आवश्यक बताये गये हैं।[57] गीता में दम्भ (पाखण्ड), दर्प (गर्व), अभिमान, क्रोध आदि अनैतिक गुण आसुरी सम्पदा बताये गये हैं।[58] गीता में अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, अपैशुन (किसी की निन्दा न करना), दया, मार्दव (कोमलता), तेज, ह्री, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह तथा अभिमानरहित होने को दैवी सम्पदा माना गया है[59] अन्यत्र काम, क्रोध एवं लोभ को नरक–द्वार कहा गया है।[60] कालान्तर में इन नैतिक गुणों की संख्या में वृद्धि हो गयी।

विशिष्ट धर्म[61] के अन्तर्गत जिन सामाजिक धर्मो का समावेश किया गया है, उन्हें 'स्वधर्म'[62] भी कहा जाता है। इनमें 'वर्ण–धर्म'[63] का प्रथम स्थान है। ऋग्वेद में मुख्यतः दो वर्णो[64] का उल्लेख प्राप्त होता है – ब्रह्म एवं क्षेत्र। ये दोनों ही वर्ग

उन्नति एवं विकास हेतु परस्पर आश्रित थे। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि परिवर्तित होती हुई सामाजिक परिस्थितियों ने जिस समाज को अनेक वर्गों में विभक्त कर दिया। इनमें प्रत्येक के अपने-अपने निर्धारित कर्तव्य थे। किन्तु इन विपरीत परिस्थितियों में भी यज्ञ की उपयोगिता एवं शक्ति का क्रमिक विकास जारी रहा और उसने कर्मकाण्डीय स्वरूप प्राप्त कर लिया।[65] ऋग्वेद के पुरूष सूक्त से वर्ण व्यवस्था का उद्‌भव सम्बन्धी प्राचीनतम ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस विवरण के अनुसार विराट् पुरूष के मुख, बाहू, उर तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए थे।[66] परवर्ती साहित्य से भी चतुर्वर्णों की उत्पत्ति सर्वोच्च सत्ता द्वारा ही प्राप्त होती है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था का स्वाभाविक विकास दिखायी पड़ता है।[67]

वस्तुतः वर्ण व्यवस्था सामाजिक प्राणी बनाने की व्यवस्था के रूप में ही सामने आती है। यह धर्म का ही सुप्रतिष्ठित स्वरूप है। इसके द्वारा उच्चतम ब्राह्मण वर्ण के साथ ही साथ निम्नवर्णीय शूद्र भी नियन्त्रित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने-अपने कर्मो का पालन करते हुए जहाँ एक ओर चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में प्रयत्नशील होते हैं, वहीं दूसरी तरफ समाज के अन्य सदस्यों को भी चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोग प्रदान करते हैं। वैदिक साहित्य में विभिन्न वर्ण के सदस्यों के लिए पालनीय वर्ण धर्मो की विस्तृत सूची प्राप्त होती है।

किन्तु वर्ण धर्म के साथ-साथ आश्रम धर्म[68] के पालन से ही[69] में सामाजिकता का पूर्ण विकास सम्भव हो सका।[70] क्योंकि पुरूषार्थ में जहाँ एक ओर 'मोक्ष' को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर त्याग को प्रोत्साहन दिया गया है, वहीं दूसरी तरफ व्यक्ति को सांसारिक दायित्वों की पूर्ति करने का भी निर्देश दिया

गया है। इन दोनों परस्पर विरोधी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मनुष्य के जीवन को विभिन्न आश्रमों में विभाजित किया गया है जिससे वह जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न दायित्वों की पूर्ति करके जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सके। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की जीवन अवधि को ब्रह्मचर्य,[71] गृहस्थ,[72] वानप्रस्थ[73] और सन्यास[74] – इन चार भागों में विभक्त करके,[75] प्रत्येक अवधि के लिए कुछ निश्चित कर्तव्यों का निर्धारण किया गया था।[76] आश्रम धर्म का पालन सभी द्विज वर्ण हेतु श्रेयस्कर माना गया है। प्रत्येक आश्रम के लिए निश्चित संयम और नियम के अनुपालन हेतु धर्ममशास्त्रकारों ने निर्दिष्ट किया है। महाभारत के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ब्रह्मचारी को अन्तर-बाह्य की शुद्धि के साथ-साथ सन्ध्योपासना, सूर्योपासना तथा अग्निहोत्र द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिए। गुरू-सेवा करनी चाहिए तथा गुरू के कृपा-प्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर रहना चाहिए।[77] गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना गया है।[78] यह समुद्र के रूप में है, जिसमें अन्य सभी आश्रम नदी के रूप में मिलते हैं।[79] गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य 'त्रिवर्ग' का पालन बताया गया है। इसके अन्तर्गत मनुष्य तीन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करते हुए[80] पंच महायज्ञों को सम्पादित करते हुए[81] तथा अन्य इष्टापूर्त कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति की ओर अग्रसारित होता है।[82] वान प्रस्थाश्रम में वानप्रस्थी संयम, त्याग, अनुशासन आदि का पालन करते हुए आत्म नियन्त्रण का विकास करता था।[83] इसके अन्तर्गत वानप्रस्थी इन्द्रिय निग्रह के साथ मन और मस्तिष्क को भी एकाग्र करने का अभ्यास करता था। इस प्रकार यह सन्यास का प्रारम्भिक रूप था। सन्यास आश्रम चौथा आश्रम था, जिसमें सन्यासी या परिव्राजक संसार से विरत होकर स्वयं को ईश्वर भक्ति में लगाता है। वह सभी मनुष्यों के प्रति समता का भाव रखता है।[84] यह मोक्ष प्राप्ति का अन्तिम

चरण था। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जहाँ एक तरफ नैतिक गुणों को महत्ता प्रदान की गयी, वहीं पर मानव के महत्व को भी स्वीकार किया गया।[85]

प्राचीन काल में, यद्यपि, यह आश्रम व्यवस्था सभी के लिए मान्य थी, किन्तु कतिपय प्रसंगों में इसका उल्लंघन भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में शान्तनु और भीष्म के प्रसंग में इस आश्रम व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत वृद्धावस्था में शान्तनु पुनर्विवाह रचाते हैं और भीष्म राजा बनने की आयु में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहने की शपथ ले लेते हैं।[86] किन्तु उल्लेख अपवाद रूप में ही प्राप्त होते हैं। वस्तुतः इस व्यवस्था द्वारा परिवार के सभी सदस्यों में पारस्परिक स्नेह और अनुराग में वृद्धि सम्भव थी।[87] "सामान्यतः आश्रम सिद्धान्त का निर्देश यही है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ तथा वासनामय जीवन के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्ष के सर्वोत्तम साध्य को प्राप्त कर सके।"[88] इसीलिए डॉ0 काणे आश्रम सिद्धान्त को एक उत्कृष्ट धारणा मानते हैं।[89]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक ज्ञान अथवा वैदिक शिक्षा का सार 'धर्म' के अनुपालन में है। यहॉ पर 'धर्म' की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। प्रस्तुत 'धर्म' के अनुपालन के पीछे वैदिक ऋषियों का यह मन्तव्य स्पष्ट था कि इससे व्यक्ति में ऐसे नैतिक मूल्य का संचार होगा जिससे वह स्वयं को सर्वांगीण रूप से विकसित करते हुए सामाजिक व्यवस्था के सुसंचालन में अपना यथेष्ट योगदान दे सकेगा। धर्म के रूप में चाहे 'वर्ण धर्म' हो अथवा आश्रम व्यवस्था इन सभी के माध्यम से व्यक्ति में श्रेष्ठ गुणों का संचार करते हुए उसे सामाजिक दायित्वों के निर्वहन के योग्य बनाना ही वैदिक शिक्षा का आधार था। व्यक्ति निर्माण और सामाजिक कल्याण कुछ निश्चित मूल्यों के बिना सम्भव नही है इस तथ्य की

स्थापना का सबल प्रयास वैदिक आचार्यो द्वारा किया गया। 'ऋत' और 'वरूण' के माध्यम से 'सत्य' और 'नैतिक मूल्यों' के प्रसार तथा स्थापन का अद्‌भुत प्रयास किया गया और यह भी निर्दिष्ट किया गया कि इसके बिना प्रकृति और मानवता कुछ भी सुरक्षित नहीं है। धर्म के रूप में नैतिक मूल्यों के संचार की यह वैदिक शिक्षा दुनिया को भारतीय संस्कृति का अनुपम देन का जा सकता है।

अर्थ :

भौतिक सुख साधनों की समग्रता के रूप में 'अर्थ' मानव जीवन के लिए सहज काम्य होता है। मानव के अस्तित्व के लिए वह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। मनुष्य के सारे कार्य व्यापार अर्थ पर अवलम्बित और अर्थ केन्द्रित होते हैं। 'अर्थ' से ही उसका जीवन सार्थक होता है। 'अर्थ' के अभाव में उसकी प्राण यात्रा कही अवरूद्ध हो जाती है।[90] यही कारण है कि अर्थ को तीनों पुरूषार्थो का मूल बताया गया है। भौतिक सुख साधनों की सर्वोच्च समग्रता के रूप में 'अर्थ' राजपद से अभिन्न हो जाता है और 'अर्थनीति', 'राजनीति' बन जाती हैं। किन्तु अपने प्रारम्भिक अर्थ में 'अर्थ' की साधनपरकता बनी रहती है और वह 'धन' का भी पर्याय होता है। इस प्रकार 'अर्थशास्त्र', 'राज्यशास्त्र' होने के साथ ही साथ 'धन अर्जित करने का शास्त्र' भी भारतीय परम्परा में माना गया है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य की योजना में 'अर्थ' का यही रूप प्राप्त होता है, जो अपने ऐतिहासिक विकासक्रम में भिन्न–भिन्न स्थितियाँ प्राप्त करता चलता है।

डॉ0 गोपाल ने ''अर्थ'' को परिभाषित करते हुए लिखा है – ''अर्थ शब्द धन, सम्पत्ति, अथवा मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है। यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है।''[91] डॉ0 कापडिया के मतानुसार – ''मानव में प्राप्त करने की प्रवृत्ति का तुष्टिकरण ही ''अर्थ'' है। वस्तुतः अर्थ शब्द

सफलता, सौभाग्य एवं समृद्धि की खोज का व्यंजक है।''[92] इस प्रकार ''अर्थ'' मानवीय इच्छा की पूर्ति का सर्वोत्तम साधन है। इससे सुखोपलब्धि होती है।

पूर्व वैदिक कालीन आर्यो के जीवन में भी 'अर्थ' की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका के संकेत हमें ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में हमें जिस समाज का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है, उस समाज के लोगों में जीवन के भौतिक पक्ष के प्रति तीव्र आकर्षण था। दैहिक और लौकिक भोगों के प्रति उनकी सहज अनुरक्ति थी और इस अनुरक्ति की पूर्ति के लिए वे विभिन्न सुख-साधनों की आकांक्षा रखते थे। ऋग्वेद की सम्पूर्ण विषय-वस्तु देवताओं की स्तुतियों के रूप में ही हमें प्राप्त होती हैं और इन स्तुतियों के अधिकांश भागों में देवताओं से सुख-साधनों की वृद्धि की प्रार्थना की गयी है।[93] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ऋषि अग्नि की स्तुति करते हुए कहते हैं कि ''अग्नि द्वारा प्रतिदिन बढ़ने वाली धन सम्पत्ति तथा यशस्वी एवं श्रेष्ठ वीर पुरूष प्राप्त करें।[94] ऋग्वेद के दूसरे मण्डल में इन्द्र को सम्बोधित किया गया है - ''हे इन्द्र, हम तुम्हारे प्रिय होकर और उत्तम पुत्रों से युक्त होकर प्रतिदिन तुम्हारी स्तुति का श्रद्धापूर्वक उच्चारण करें।''[95] इसी प्रकार देवि उषा की स्तुति की गयी है कि हमारे शत्रु को अपने प्रकाश से दूर भगा दो। हमारे लिए विस्तृत भूमि दो और हमें अभय कर दो। द्वेषी लोगों को हमसे दूर करो तथा धन प्रेरित करो।[96] हे देवि, हमारे लिए हमारी आयु को बढ़ाती हुई अत्यन्त सुन्दर किरणों से प्रकाशित हो। हमारे लिए पुष्टि (समृद्धि) और गायों, अश्वों, रथों से युक्त धन प्रदान करती हुई प्रकाशित हो।[97] अन्यत्र भी उषा देवि से श्रेष्ठ एवं महान धन प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है।[98] प्रजापति सूक्त में भी कतिपय स्थलों पर सर्वप्रथम उत्पन्न प्रजापति (हिरण्यगर्भ) से धन के स्वामी बनने की इच्छा व्यक्त की गयी है।[99] ऋग्वेद में सवितृ देव को भी प्रशंसनीय, अनिन्दित एवं द्वेषरहित धन

को अपने हाथों में रखे हुए प्रस्तुत किया गया है[100] एवं उस धन के श्रेष्ठ भाग हेतु उनकी प्रार्थना की गयी है।[101] अन्यत्र वरूणदेव से यज्ञों तथा हर्विद्रव्यों द्वारा आयु,[102] पापों के नाश,[103] सुख[104] एवं अन्न प्रदान करने की[105] कामना की गयी है। एक स्थल पर स्तुति की गयी है कि – "हे वरूण देव! जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसलों (निवास स्थान) के पास जाते हैं उसी प्रकार मेरी कामनाएं जीवन-प्राप्ति हेतु आपके पास भागती है।"[106] इसी प्रकार अश्विनों की प्रार्थना भी की गयी है कि "मैं सुन्दर गायों तथा सुन्दर वीरों से युक्त इस (राष्ट्र) का स्वामी बनूँ और देखता हुआ तथा लम्बी आयु को प्राप्त करता हुआ वृद्धावस्था को पहुँचूँ, जैसे कोई अपने घर को पहुँचता है।"[107]

इस प्रकार धन, गायें, पुत्र और सम्पत्ति आदि की कामना ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों की विषय-वस्तु का निर्माण करती है, जिसमें ऋग्वैदिक आर्यो की अर्थ-चेतना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस अर्थ चेतना का एक आयाम शत्रु पर विजय के रूप में ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। यह विजय केवल अस्तित्व रक्षा के लिए ही नहीं, बल्कि विजय के उपरान्त अपने उपभोग के लिए प्राप्त होने वाली शत्रुओं की सम्पत्ति की आशा में भी प्रार्थनीय थी।

ऋग्वेद के अन्यान्य सूक्तों के अध्ययन से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक कालीन आर्यो का जीवन नैसर्गिक रूप से सांसारिक सुख-सुविधाओं की कामना से युक्त एक भौतिक प्राणी का जीवन था, जिसका परवर्त काव्य में विकसित होने वाली आध्यात्मजनित विरक्ति और नैराश्य से कतई परिचय नहीं था। जीवन की सहजता और सुखमूलकता में वे असन्दिग्ध रूप से विश्वास करते थे और जीवन के भोग्य पदार्थो की अधिकाधिक उपलब्धि उनके लिए

जीवन का चरम लक्ष्य थी। तत्कालीन विचारधारा में यद्यपि 'अर्थ' शब्द की सैद्धान्तिक अवधारणा का विकास नहीं हो सका था तथापि ऋग्वेद में कई स्थल पर 'अर्थ' शब्द का प्रयोग भौतिक उपादानों के लिए अथवा आकांक्षा के रूप में किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में 'अर्थ' का जो सैद्धान्तिक विस्तार हुआ उसके सूत्र ऋग्वेद से ही लिए गए रहे होगें। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में प्रतिबिम्बित होने वाला यह अर्थचिन्तन कालान्तर में विकसित होने वाली अर्थ व्यवस्था के पूर्व रूप में अपनी सहज परिणति प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है, जब ऋग्वेद के दशम मण्डल में हमें एक ओर तो कृषि कर्म की व्यापकता और इस कारण भूमि की महत्ता की झलक दिखाई देती है[108] और दूसरी ओर पुरूष सूक्त में चार वर्णो में समाज विभाजन की प्रक्रिया[109] द्वारा अर्थउपार्जन के लिए एक विशिष्ट वर्ण के निर्माण की प्रक्रिया आकार ग्रहण करती हुई दिखाई देती है। इस सम्पूर्ण परिवेश में यद्यपि देव कृपा प्राप्ति की आकांक्षा कहीं कम होते हुए नहीं दिखाई देती, तथापि याज्ञिक कृत्यों और अनुष्ठानों की बहुलता और जटिलता[110] में देववाद कहीं पीछे हटता हुआ सा अवश्य लगता है। सामाजिक–धार्मिक जीवन में हुए इन परिवर्तनों ने अर्थबोध की अक्षुण्णता बचाये रखी, यद्यपि अब उसका विकास आनुष्ठानिक अतिवादों की सघन, जटिल धाराओं में से फूटकर ही हो सकता था और उत्तर वैदिक काल में दीर्घ सत्रों में होने वाले संवत्सर यज्ञों के आर्थिक पक्ष में तत्सम्बन्धित सम्भावनाओं के संकेत देखे जा सकते हैं।

उत्तर वैदिक काल में यज्ञीय जटिलताओं और कर्मकाण्डीय बहुलताओं ने जिस आनुष्ठानिक संस्कृति को जन्म दिया उससे तत्कालीन जीवन की अर्थ चेतना ने एक नवीन आयाम प्राप्त किया और उसमें भौतिक सुखों की सैद्धान्तिक सर्वोच्चता के रूप में स्वर्ग की अवधारणा का विकास हुआ जो मानव जीवन का

चरम लक्ष्य माना जाने लगा और यज्ञ इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन स्वीकृत किये गये। भौतिक सुखों के विस्तार में स्वर्गिक सुखों का समावेश, इस प्रकार मानवीय पर्येषणांओं का अगला विस्तार था जो एक तरह से 'अर्थ' की अर्थवत्ता का भी प्रसार था। यही कारण है कि उत्तर वैदिक काल में अर्थ के दो रूप दिखाई देते हैं। प्रथमतः यह भौतिक सुख-साधनों का समग्र था, जिसमें भूमि अथवा पृथिवी की प्राप्ति भी सम्मिलित थी। अपने दूसरे रूप में यह स्वर्गिक सुखों और देवत्व प्राप्ति के साथ जुड़ा हुआ था और इस प्रकार उसने पारलौकिक उपलब्धियों का रूप ले लिया था, किन्तु उनके प्रति निरा भौतिक दृष्टिकोण होने के कारण ये उपलब्धियां 'अर्थ' की परिधि के बाहर नहीं मानी जा सकती थीं। उत्तर वैदिक साहित्य विशेषतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनमें भौतिक सुख-साधनों के साथ ही साथ स्वर्गिक सुख-साधनों की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गयी है और उसके लिए यज्ञों के सम्पादन का भी उल्लेख किया गया है। अश्वमेघ, राजसूय और बाजपेय आदि बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इन यज्ञों का उद्देश्य एक ओर तो उच्चतम भौतिक उपलब्धियों - नामतः साम्राज्य अथवा चक्रवर्ती राजपद आदि प्राप्त करना था और दूसरी ओर इन यज्ञों के सम्पादन से स्वर्ग की प्राप्ति को भी सम्भव बताया गया था।

पूर्ववर्ती यज्ञीय यान्त्रिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप आरण्यकों के काल में यज्ञों के भौतिक अथवा बाह्य अभिनय के स्थान पर 'अन्तर्यज्ञ' और 'मनोयज्ञ' के रूप में उनके मानसिक सम्पादन की जिस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ उसकी चरम परिणति उपनिषद् काल में ब्रह्म, आत्मन् और मोक्ष जैसे दार्शनिक अवधारणाओं के रूप में सामने आयी। इस प्रवृत्ति की एक सहज निष्पत्ति थी

भौतिक जगत और उसके उपादानों के प्रति विरक्ति का भाव। परिणामतः उपनिषद् काल में अर्थ चेतना को वैराग्य चेतना से जूझना पड़ा तथापि उपनिषदों का तमाम आध्यात्मिक चिन्तन उसके सहज प्रवाह को अवरुद्ध न कर सका। उपनिषदों में अर्थ के महत्तव को प्रतिपादित करने वाले अनेकशः उल्लेख स्पष्ट करते हैं कि उपनिषदकालीन चिन्तन अर्थ-विरोधी चिन्तन नहीं था, यद्यपि स्वरूपतः वह परमार्थाभिमुखी था।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञान की अभीप्सा रखते हुए भी अर्थ लाभ की ओर से उदासीन नहीं दिखते। वस्तुतः मोक्ष और अर्थ दोनों को ही औपनिषदिक चिन्तन में उपलब्धि स्वीकार किया गया था। बृहदारण्यक उपनिषद् में[111] एक स्थल पर जनक की राजसभा में शास्त्रार्थ को प्रस्तुत याज्ञवल्क्य सोने से मढ़ी सींगों वाली सहस्र गायें प्राप्त करने को उतने ही इच्छुक दिखाई देते हैं, जितने ब्रह्म-प्रतिपादन के लिए। जनक के पूछने पर कि आपको धन और पशु चाहिए या शास्त्रार्थ में विजय, याज्ञवल्क्य का दोनों के लिए इच्छा प्रकट करना उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार प्रव्रज्या को उद्यत याज्ञवल्क्य का अपनी दो पत्नियों में सम्पत्ति का बँटवारा करने की बात करना[112] यह स्पष्ट इंगित करता है कि वे सम्पत्ति की इच्छा ही नहीं रखते थे, बल्कि दो पत्नियों में विभाजित किये जाने योग्य पर्याप्त सम्पत्ति उनके पास थी, जो उनकी अर्थ चेतना की एक झलक है।

उपनिषद् काल में आध्यात्मिक चिन्तन के विकास के बावजूद भौतिक उपलब्धियों के समग्र रूप में 'अर्थ' का महत्व बना रहा, किन्तु उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन की भ्रान्तिपरक व्याख्या के परिणामस्वरूप तथा इतरवैदिक भिक्षुपरक धर्मो - नामतः बौद्ध तथा जैन - के बढ़ते हुए प्रभाव ने एक

निवृत्तिमार्गी जीवन दर्शन को जन्म दिया जिसने 'अर्थ' और 'काम' की निस्सारता प्रतिपादित की और त्याग, तपस्या, वैराग्य आदि के माध्यम से मोक्ष अथवा निर्माण की प्राप्ति पर बल दिया। किन्तु इस दर्शन की अव्यावहारिकता के कारण तत्कालीन समाज में उनके विरूद्ध दो तरह की प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हुई। कठोर निवृत्ति मार्ग के विपरीत घोर प्रवृत्तिमार्गी चार्वाक् दर्शन यदि एक ओर उद्भूत हुआ तो दूसरी ओर प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय द्वारा एक सन्तुलित और सामंजस्य परक विचारधारा विकसित हुई। चार्वाक् दर्शन को कठोरतम आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा किन्तु दूसरी विचारधारा ने भारतीय संस्कृति की समन्वयपरकता को आगे बढ़ाया और मोक्ष को चरम पुरूषार्थ के रूप में अवधारित करते हुए भी अर्थ और काम की महत्ता को कम नहीं किया। इस विचारधारा का वास्तविक विकास महाकाव्य काल में देखने को मिलता है।

महाभारत में अर्थ की अवधारणा को एक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत की सम्पूर्ण विषय-वस्तु में यह अर्ध चेतना अपने विकसित रूप में दिखाई देती है, जिसमें एक ओर तो धन और दूसरी ओर राजपद को इसके अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया गया है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करने पर बल दिया गया है। महाभारत में यह विचार प्राप्त होता है कि ब्रह्मा ने यज्ञ के निमित्त ही धन की सृष्टि की और यज्ञ के माध्यम से उसकी रक्षा करने वाले मानव को उत्पन्न किया, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने सम्पूर्ण धन का उपयोग यज्ञ में कर दें।[113] धन से यज्ञ करने पर ही इन्द्र को परमपद और स्वर्ग तथा हरिश्चन्द्र को इन्द्र पर विजय प्राप्त हुई।[114] कौरवों द्वारा छलपूर्वक राज्य अधिग्रहण के पश्चात जब पाण्डव वनवासी का जीवन यापन कर रहे थे तब कुन्ती कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को सन्देश भेजती है कि 'तुम साम, भेद, दण्ड, या उपहार

प्रदान करके, किसी भी प्रकार अपना विलुप्त राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करो।[115] कुन्ती के इस सन्देश में 'अर्थ' या 'राज्य' के प्रति उसका मोह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसी प्रकार शान्तिपर्व में अर्जुन का कथन है कि 'धन ही सर्वोच्च धर्म है। प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। संसार में केवल अर्थ सम्पन्न लोग ही सुखपूर्वक रह सकते हैं। निर्धन या अर्थहीन लोग मृत के सदृश हैं।[116] उद्योगपर्व में युधिष्ठिर ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।[117] अतः यदि व्यक्ति को धन से वंचित कर दिया जाए तो धर्म, अर्थ, काम के साथ-साथ वह व्यक्ति भी नष्ट हो जाता है।[118] वास्तव में आस्तिक-नास्तिक, संयम नियम परायण पुरूष भी अर्थ इच्छुक होते हैं, क्योंकि अर्थ की प्रधानता का ज्ञान प्रकाशमय है।[119] अर्थ का उपार्जन और रक्षण इसलिए आवश्यक बताया गया, क्योंकि इसी से सम्पूर्ण कार्यो का सम्पादन सम्भव था। अर्जुन का विचार था कि अर्थ की रक्षा के लिए ही विधाता ने दण्ड का विधान किया है।[120]

निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा के अनुगामी होते हुए भी भगवान् बुद्ध के विचारों में भी 'अर्थ' पुरूषार्थ के सम्बन्ध में दिशा बोध है। वास्तव में बुद्ध केवल एक अर्थशास्त्री ही नहीं, वरन् एक सामाजिक अर्थशास्त्री के रूप में हमारे सामने आते हैं। दीघनिकाय में उल्लेख है कि "आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गयी है, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है, किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है वह कभी सुख से वंचित नहीं होता।[121] इसके अतिरिक्त, "जिस प्रकार प्रयत्नवान् रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चींटी का वाल्मीकि बढ़ता है, उसी प्रकार प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है।[122] प्राप्त धन के सदुपयोग के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं कि " सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग न करे, दो

भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चौथे भाग को आपत्ति काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।''[123] चूंकि बुद्ध एक महान् सामाजिक अर्थशास्त्री थे, इसीलिए समाज में धन का समवितरण का निर्देश देते हैं, जिससे कि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। स्पष्ट है कि धन के समवितरण के अभाव में समाज में अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होने का भी भय रहता है। बुद्ध के अनुसार – ''निर्धनों को धन नहीं दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गयी और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गयी।''[124] 'चोरी का बहुत बढ़ जाना' धर्म की असुरक्षा की भावना को ही इंगित करता है। किन्तु बुद्ध धर्मविमुख अर्थ को अस्वीकृत करते हुए, धर्मयुक्त व्यवसाय में ही नियोजित होने का निर्देश देते हैं।[125] मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ''जो व्यक्ति जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरने वाले के पीछे उसका धन आदि नहीं रह जाता है और न धन से जरा मरण से ही छुटकारा मिल सकता है।[126]

प्राचीन भारतीय अर्थ चेतना का सर्वाधिक विस्तार कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' में देखने को मिलता है, जिसमें 'अर्थ एवं प्रधानम्' की स्पष्टोक्ति द्वारा कौटिल्य ने अर्थ की सर्वाधिक महत्ता[127] असंदिग्ध रूप से स्थापित की है।[128] कौटिल्य ने 'अर्थ' की परिभाषा प्रस्तुत करते समय उसकी अवधारणा को पूर्वापेक्षा व्यापक बनाने का प्रयास किया है। अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही 'पृथ्वी के लाभ और पालन' की विद्या को अर्थशास्त्र की संज्ञा देते हुए कौटिल्य 'अर्थ' और 'अर्थशास्त्र' के प्रति अपने दृष्टिकोण का परिचय दे देते हैं। अर्थशास्त्र की सम्पूर्ण विषय-वस्तु में राजनय[129] और दण्डनीति का सुविस्तृत और सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया गया है। किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा में कौटिल्य 'मनुष्याणां वृत्ति' तथा 'मनुष्यवती भूमि' की ही

गणना करते हैं।[130] मनुष्य की वृत्ति अथवा व्यवसाय और मनुष्यवती भूमि की रक्षा पालन और वृद्धि में राज्य की अप्रतिम भूमिका होती है, अतः अर्थशास्त्र में अर्थ का राज्य से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और जब कौटिल्य 'अर्थ' को धर्म और काम का मूल[131] घोषित करते हैं तो यह अभिन्न सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जाता है।

अर्थ सम्बन्धी उपरोक्त विवरण से यह प्रतिमासित होता है कि भारत में चाहे ब्राह्मण परम्परा रही हो अथवा श्रमण दोनों में अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक ऋषियों ने अर्थ को सभी प्रवृत्तियों का नियामक बताते हुए यह शिक्षा देने का प्रयास किया आधिदैविक जगत के साथ-साथ आधिभौतिक जगत भी सर्वथा महत्वपूर्ण है क्योंकि समस्त मानवीय व्यावहारिक क्रियाओं का केन्द्र जगत ही है। वैदिक युग में ही इस अर्थ चेतना का इतना अधिक विस्तार हुआ कि उपनिषदों तक आते-आते इसका परमार्थ में विलीनीकरण दिखाई देने लगा। वैदिक शिक्षा का यह मूल तत्व है कि जीवन में अर्थ की केन्द्रीय भूमिका होने के नाते कहीं मानव स्वार्थी न हो जाय और अपने सामाजिक सरोकारों को विस्मृत कर दें, इसलिए अर्थ के परमार्थीकरण की ओर वैदिक ऋषि चिन्तित दिखे। इसका विकास आगे के काल खण्डों में भी होता रहा और 'अर्थ' 'धर्म' तथा 'काम' का मूल घोषित किया गया। एक ओर अर्थ को केन्द्र में रखकर वैदिक ऋषियों ने सांसारिक महत्ता तथा व्यक्ति के सामाजिक सरोकारों को संपुष्ट रखने का प्रयास किया तो दूसरी ओर उस 'अर्थ' पर 'धर्म' का पहरा बिठाकर व्यक्ति को अनैतिक होने से बचाने का प्रयास किया। मूल्य और नैतिकता में प्रतिष्ठापन का यह महान प्रयास था। सामाजिक सन्तुलन और सामाजिक सन्नियमन वैदिक-शिक्षा का केन्द्रीय तत्व है।

काम :

पुरूषार्थ चतुष्टय की योजना में 'काम' की गणना यद्यपि तृतीय स्थान पर की गयी है, किन्तु अपने स्थूल रूप में जैव चेतना की प्राथमिक स्थितियों से सम्बद्ध होने के कारण मानव-जीवन में उसका सर्वाधिक महत्व है। काम सृष्टि चक्र का संचालन है। उसी के कारण संसार की संसृति होती है।[132] काम अर्थ की अर्थवत्ता का आधार है। काम साध्य है और अर्थ साधन। काम ही मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करता है। मनुष्य की सहज सुखैषणा उसमें काम की नैसर्गिक प्रवृत्ति का उद्‌घाटन है।[133] काम ही मनुष्य में सौन्दर्य बोध उत्पन्न कर कलात्मक अभिरूचि का विकास करता है। काम मनुष्य में मृदुलता, कोमलता और संवेदनशीलता का भाव जाग्रत करता है, जिसकी व्यावहारिक परिणति सौम्यता, उदारता, प्रेम और वात्सल्य आदि के रूप में होती है।[134] काम की स्वाभाविक तौर पर पूर्ति में अवरोध मनुष्य के व्यक्तित्व को कुण्ठित कर उसमें विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है। न तो उसका व्यवहार ही सहज रह पाता है और न उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास हो पाता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव व्यक्तित्व के विकास में काम की इस महत्वपूर्ण भूमिका को समझा था और उसे जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया था।

शाब्दिक दृष्टि से काम का अर्थ है 'इच्छा'[135] किन्तु अवधारणात्मक दृष्टि से काम का यह अर्थ अत्यन्त संकीर्ण है। काम मात्र इच्छा तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अपने विस्तार में वह इच्छा से लेकर इच्छा-पूर्ति के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले सुख तक जा पहुंचता है। इस प्रकार मन में किसी वस्तु की इच्छा अथवा कामना उत्पन्न होने से लेकर उसकी प्राप्ति से होने वाली सुखानुभूति तक की स्थितियाँ काम की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं।[136] सुख काम की परिणति है

और अर्थ उसका साधन। काम का क्षेत्र भौतिक अथवा ऐन्द्रिक जगत् तक ही सीमित होता है। इन्द्रिय-संवेदन और तज्जनित सुख की उपलब्धि काम की अवधारणा के दो छोर हैं और इन दो छोरों के बीच ही इस अवधारणा का क्रमिक विकास होता है। किन्तु सुख-दुःख की अनुभूति एक मानसिक प्रक्रिया है, अतः काम-चेतना का विस्तार इन्द्रिय-जगत् से मनो-जगत् तक हो जाता है। वह ऐन्द्रिक उपलब्धि को मानसिक उपलब्धि का रूप दे देता है।[137]

'काम्यन्ते इति कामः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया 'काम' कहलाता है।[138] वस्तुतः आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा - इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श - इन पाँच विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले मानसिक आनन्द को ही काम कहते हैं। इसके साथ ही साथ इस मानसिक आनन्द को प्राप्त करने के लिए जो अभिलषित साधन (अथवा अभिलषित वस्तु) होते हैं, उन्हें भी 'काम्यन्ते इति कामः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काम कहते हैं। स्पष्ट है कि स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य, फल-फूल, भक्ष्य-भोज्य, लेह्य-चोष्य, पेय, नृत्य, गीत, वस्त्र अलंकार आदि इहलौकिक और पारलौकिक अभिलषित पदार्थ को भी काम कहते हैं।[139] इसके साथ ही साथ इस सुख और सुखोपभोग की सामग्रियों के सम्पादन की ओर प्रेरित करने वाला मानसिक संकल्प (इच्छा, कामना आदि) भी काम कहलाता है, क्योंकि "मन के ही संकल्प और विकल्प से काम (इच्छा, कामना आदि आन्तरिक काम) की उत्पत्ति होती है।[140] स्पष्ट है कि 'काम' शब्द के मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं -[141]

1. सुख,
2. सुख के साधन,
3. सुख की कामना।

काम क्या है? इस विषय पर अनेक धर्मग्रन्थों का विचार है कि "मनस् का, चित्त का, जीवत्य का, संसार का, रेतस्, बीज, काम, परमात्मा के निष्काम हृदय में, सदा सबसे आगे वर्तमान है। मनीषी कवियों, ऋषियों ने अपने हृदय में, हृदय गुहा में, हृदयस्थ परमात्मा में, गहरी खोज करके, सत् के सगे बन्धु इस असत् को पाया है। परमात्मा के भीतर संकल्प हुआ, कामना हुई कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, तब सृष्टि हुई। पुरुष काममय है, उसका रूप, उसकी शक्ति, उसकी प्रकृति, काम ही है।[142]

'कान, त्वचा, आँख, जिह्वा, नाक – इन पाँच इन्द्रियों की इच्छानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अपने इन विषयों में प्रवृत्ति ही काम है अथवा इन इन्द्रियों की प्रवृत्ति से आत्मा जो आनन्द अनुभव करता है, उसे 'काम' कहते हैं।[143] "शरीर की स्थिति का हेतु होने से 'काम' आहार के समान है और धर्म तथा अर्थ का फलभूत भी यही है।[144]

वात्स्यायन ने काम को दो रूपों में विभक्त किया है – 1. सामान्य काम, 2. विशेष काम। वात्स्यायन ने सुखपूर्वक इन्द्रियादि विषयक इच्छा को सामान्य काम के अन्तर्गत ग्रहण किया है।[145] और काम विशेष के अन्तर्गत कर्मेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होने वाली आनन्द प्रतीति को ग्रहण किया है।[146] वात्स्यायन न काम का मुख्य प्रयोजन सुख और सन्तानोत्पत्ति बताया है।[147] फ्रायड ने उन सभी कार्यो तथा व्यवहारों को काम-सम्बन्धी माना है जिन्हें लोग स्नेह, प्रेम, सुख-शब्दों में व्यक्त करते हैं अर्थात् वे सभी कार्य इसके अन्तर्गत समाहित हैं जो व्यक्ति को सुख प्रदान करते हैं।[148] पी.वी. काणे ने भी काम को निर्दोष आनन्दों एवं उचित कामनाओं के उपभोग का जीवन बताया है।[149] अतः स्पष्ट है कि काम का अर्थ है विषयों के अनुभव से उत्पन्न सुख। जो सुख अथवा आनन्द बाहरी विषयों के

सम्पर्क से[150] अथवा बौद्धिक तथा रागात्मक तृप्ति से प्राप्त होता है, वह काम है।[151] अथवा इन्द्रियों के बाह्य विषयों के सम्पर्क से जनित सुख को ही काम कहते हैं।[152]

पुरूषार्थ-चतुष्टय की योजनाबद्ध मूल्य-व्यवस्था का विकास करने वाली भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रवृत्ति जीवन में अनित्य सुखात्मक काम ही साध्य है तथा अर्थ और धर्म उसके साधन हैं।[153] काम की परिणति सुख में होती है और यद्यपि उसका धरातल ऐन्द्रिक ही होता है, तथापि यह सुख स्थूल ऐन्द्रिक सुख ही नहीं होता। जैसा कि एक विद्वान् का कहना है कि सुख मानवीय चेतना की एक वांछनीय स्थिति है। गुणात्मक दृष्टि से सुख उस आनन्द से भिन्न नहीं होता जो आध्यात्मिक उपलब्धि का परिणाम है। सुख और आनन्द दोनों का सम्बन्ध मानवीय चेतना से होता है, किन्तु सुख के साथ दुःख के अनिवार्य संयोग के कारण जहाँ एक द्वैतात्मकता बनी रहती है, वहीं आनन्द सभी प्रकार के द्वैत से परे की स्थिति है। काम पूर्ति से उत्पन्न सुख और मोक्ष लाभ से प्राप्त आनन्द दोनों में गुणात्मक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, किन्तु काम-सुख क्षणिक होता है[154] जबकि मोक्ष प्राप्ति का आनन्द अपरिमेय और अनन्त होता है।[155] यही कारण है कि काम को पुरूषार्थ मानते हुए भी अन्तिम पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। अन्तिम पुरूषार्थ के रूप में भारतीय परम्परा मोक्ष को ही स्वीकार करती है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक हॉब्स का कथन उल्लेखनीय है कि ''जीवन की सुखिता तृप्त मानस की आत्म विश्रान्ति नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई लक्ष्य या परम पुरूषार्थ नहीं है, जैसी कि चर्चा प्राचीन लोगों ने की है। जैसे इन्द्रिय व्यापार और कल्पना व्यापार के उपरम होने पर कोई जी नहीं सकता, वैसे ही इच्छाओं के अवसान होने पर जीवन का अन्त हो जाता है। सुख इच्छा की एक विषय से दूसरे

विषय तक निरन्तर प्रगति है, जिसमें पहले की उपलब्धि दूसरे की उपलब्धि का उपाय बनती है। इसका कारण है कि मनुष्य सिर्फ एक बार इच्छोपभोग नहीं चाहता, बल्कि भविष्य के इच्छोपभोग को भी आश्वस्त करना चाहता है।"[156]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सुख' इन्द्रिय जन्य सुख के साथ ही साथ अन्तस् सुख से भी सम्बन्धित होता है। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में अन्तस् सुख के साथ ही साथ भौतिक सुखों के महत्व को भी प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक की भी उपेक्षा मानव व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास में बाधक है।

साहित्यिक स्रोतों में 'काम' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के 'नारदीय सूक्त' में आता है, जहाँ यह कहा गया है कि प्रारम्भ में सत् भी नहीं था और असत् नहीं था। फिर उससे सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ।[157] स्पष्ट है कि काम के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एवं विकास हुआ।

ऋग्वेद के भौतिकवादी जीवन दर्शन में ऐन्द्रिक-सुखों की प्रधानता देखने को मिलती है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि उत्तम वस्तुएं, सन्तानें, धन, दीर्घायु, स्वास्थ्य आदि की प्राप्ति ही तत्कालीन जीवन के उद्देश्य थे, जिनकी प्राप्ति हेतु ऋग्वेदकालीन लोग इन्द्र, वरूण, अग्नि, उषा आदि देवताओं की उपासना करते थे। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त श्री, रमणीय इत्यादि आदमी तत्कालीन मनुष्यों के कलात्मकता के प्रति अनुराग को प्रकट करते हैं।[158] ऋग्वेद से स्पष्ट है कि तत्कालीन जीवन दर्शन में मोक्ष की कल्पना का विकास नहीं हो सका था। जीवन पर्यन्त पत्नी, पुत्र, पौत्र और समृद्धता की ही कामना की जाती थी। स्पष्टतः भौतिक पदार्थो की उपलब्धियों से प्राप्त ऐन्द्रिक सुख का तत्कालीन जीवन में सर्वोच्च महत्व था, जिसकी प्राप्ति देव कृपा पर निर्भर थी।

उत्तर वैदिक काल के प्रथमार्ध में विकसित होने वाली कर्मकाण्डीय बहुलता की प्रतिक्रिया स्वरूप आरण्यकों के काल में जिस आध्यात्मिक चेतना का सूत्रपात हुआ उसने उपनिषद् काल में आकर अपना चरम प्राप्त किया। उपनिषदों के ज्ञानमार्गी दर्शन में ब्रह्म की एकमात्र सत्ता स्वीकार कर और उसकी प्राप्ति के रूप में मोक्ष को अवधारित कर भौतिक जीवन और उससे सम्बन्धित भोगों तथा सुख-साधनों की अवरता स्थापित की गयी। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि सम्भवतः उपनिषद् काल में 'काम' सर्वथा उपेक्षणीय बन गया रहा होगा किन्तु औपनिषदिक साहित्य का गहन अध्ययन इस तथ्य के लिए अवकाश नहीं छोड़ता। लौकिक सुखों हेतु धन की अनिवार्यता से सभी परिचित थे। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य जनक से धन-सम्पत्ति की अपनी इच्छा प्रकट करते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी धन की इच्छा से यज्ञ करने का उल्लेख प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थन करते हुए कहा गया है कि 'जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, तभी वह कर्म करता है। बिना सुख मिले कोई कर्म नहीं करता। अतः सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।'[159] किन्तु ऐसा विश्वास व्याप्त हो जाने के कारण कि 'धन सम्पत्ति और उससे सम्बन्धित पदार्थो से मूढ़ एवं विषय-विलास में आसक्त मनुष्य को परलोक का ध्यान नहीं रहता है तथा यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला बार-बार मृत्यु के वश में आता है'[160] इस समय 'मोक्ष' के समक्ष 'काम' को अवरता प्राप्त हो गयी और एक गृहस्थ को स्वधर्म पालन के साथ-साथ तपःनिष्ठ जीवन व्यतीत करने पर भी बल दिया गया। वृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है कि याज्ञवल्क्य ने गृहस्थ जीवन के पश्चात् सन्यास लिया। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी के द्वारा भी 'प्रेय' की तुलना में 'श्रेय' का ही वरण किए जाने का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त विदेह शासकजनक, चाक्रायण, आरुणि आदि अनेक 'गृहस्थ

दार्शनिकों' के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कोपनिषद् में भी नचिकेता द्वारा यमराज के द्वारा प्रदत्त भौतिक सुखों के वरदान को अस्वीकार करके आत्म ज्ञान के गूढ़ रहस्य को जानने की अभिलाषा भी आध्यात्मिक ज्ञान की सर्वोच्चता को इंगित करती है।[161] स्पष्ट है कि उपनिषदों में मोक्ष की चरमता बताते हुए भी भौतिक सुखों को सर्वथा त्याज्य नहीं बताया गया। भौतिक सुखों को 'प्रेय' की संज्ञा से अभिहित कर उन्हें पर्याप्त महत्व दिया गया। वृहदारणयक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और उद्दालक आरूणि जैसे ऋषियों ने 'काम' को पर्याप्त महत्व दिया है। उद्दालक आरूणि का 'मन्थ-सिद्धान्त' सन्तानोत्पत्ति विज्ञान का पूर्व रूप है। इसी प्रकार उद्दालक आरूणि के पुत्र श्वेतकेतु को महाभारत के अनुसार विवाह-संस्था के उद्भव का श्रेय दिया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उपनिषद्कालीन जीवन-दर्शन में 'काम' को पर्याप्त महत्व प्राप्त था, भले ही उपनिषदों का दर्शन आध्यात्मवदी हो।

भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों में एकमात्र चार्वाक ही भौतिकवादी विचारधारा के समर्थक माने जाते हैं। भौतिक सुखवाद को मानने वाले चार्वाकों का सिद्धान्त तो सर्वप्रसिद्ध ही है। इनके अनुसार इन्द्रियों को सन्तुष्ट करते हुए सम्पूर्ण जीवन में सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[162] इन्होंने चार पुरूषार्थो में केवल 'अर्थ' और 'काम' को ही महत्व दिया, जिसमें 'अर्थ' को साधन को सही माना, जबकि 'काम' को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्थापित किया अथवा व्यक्ति के लिए सुख-भोग के अधिकतम सम्पादन पर बल दिया।[163] इस प्रकार इन्होंने इन्द्रिय सुख-दुःख को ही जीवन का केन्द्रीय तत्व स्वीकार किया। चार्वाकों के लिए इन्द्रिय सुखवाद ही नैतिक आदर्श थे। 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' की उद्घोषणा करके इन्होंने इसे स्पष्ट भी किया।[164]

चार्वाकों के अतिरिक्त अन्य दर्शनकारों ने भी सुखवाद का समर्थन किया है। सांख्य-दर्शन में पुरूष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि के आरम्भ का उल्लेख इसी तृतीय पुरूषार्थ की अस्पष्ट अभिव्यक्ति ही है।[165]

जैन दर्शन में 'अर्थ' और 'काम' पुरूषार्थ को एकान्त रूप से हेय नहीं कहा गया है। इसीलिए आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने स्त्रियों की चौंसठ और पुरूषों की बहत्तर कलाओं का विधान किया, जिनमें से अधिकतर कलाएँ 'अर्थ' और 'काम' पुरूषार्थ से सम्बन्धित हैं। उदान में बुद्ध कहते हैं – "ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है। काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्या धारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।"[166] स्पष्ट है कि धर्म-विरूद्ध, मानसिक अशान्तिकारक काम या विषय भोग अनाचरणीय है। गीता में भी धर्म और अर्थ के साथ ही साथ काम को भी मोक्ष का अविरोधी बताया गया है। इसमें काम-पुरूषार्थ के धर्म-अविरूद्ध दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं – "प्राणियों में धर्म-अविरूद्ध काम में हूँ.....।[167]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय विचारधारा में धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों पुरूषार्थो को जीवन में महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि जहां धर्म के अभाव में मनुष्य अर्थ और काम की लिप्सा में पड़कर नष्ट हो जाता है[168] वहीं अर्थाभाव में धर्म और काम सिद्ध नहीं हो पाते हैं।[169] इसी प्रकार काम भी प्राणी की मनोजैविक आवश्यकता है। इसीलिए त्रिवर्ग के समान रूप से सेवक को उचित बताया गया है।[170] धर्म, अर्थ और काम – ये तीनों ही जीवन में एक साथ अनुसरित किए जा सकते हैं।[171] इसी से ही एक आदर्श समाज की स्थापना होती है जिसमें मनुष्य का बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष

सम्भव होता है।[172] यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस त्रिवर्ग में एक का सेवन करने वाला अधम, दो का सेवन करने वाला मध्यम तथा तीनों का सेवन करने वाला उत्तम होता है।[173] त्रिवर्ग का पालन करने से ही व्यक्ति श्रेष्ठ तथा पण्डित कहलाता है। दोषरहित त्रिवर्ग ही कल्याणकारी होता है। अतएव आसक्ति और फल की इच्छा त्यागकर इसका सेवन करना चाहिए।[174] इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम को जीवन का फल कहा गया है।[175]

जीवन के व्यावहारिक मूल्यों के रूप में धर्म, अर्थ और काम का महत्व प्रतिपादित करते हुए और अर्थ तथा काम के अभाव में अस्तित्व–संकट की बात स्वीकार करते हुए भी भारतीय विचारधारा में उनके अनियन्त्रित उपभोग को उचित नहीं माना गया है।[176] कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि धर्म, अर्थ और काम में यदि किसी एक का अधिक पालन किया जाए तो शेष को क्षति पहुँचती है।[177] इसलिए त्रिवर्ग का समान सेवन करना चाहिए।[178] सोमदेव ने भी धर्म, अर्थ के अविरोधपूर्वक काम का सेवन बताया है। इस प्रकार धर्म, अर्थ से परिपूर्ण काम का सेवन करने से उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होती थी।[179] इसी प्रकार मनु का भी कथन है कि धर्म, अर्थ और काम – तीनों परस्पर अविरूद्ध रहकर श्रेयस् के साधन होते हैं।[180] क्योंकि यद्यपि धर्म का महत्व जीवन के सभी स्तरों और सभी परिस्थितियों में है, परन्तु अपने–अपने क्षेत्र में 'अर्थ' और 'काम' भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अर्थ और काम की उपलब्धियां नितान्त वैयक्तिक हैं और इनका अनियन्त्रित उपभोग स्वार्थपरता का विकास करेगा, जिससे न तो मनुष्य का निजी व्यक्तित्व ही समुचित रूप से विकसित हो सकता है और न ही यह समाज के लिए लाभकर होगा। इसलिए धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों की संहति में 'काम' से श्रेष्ठ 'अर्थ' है और 'अर्थ' से श्रेष्ठ 'धर्म' है।[181] भारतीय जीवन दर्शन में

मानव व्यक्तित्व के निजी और सामाजिक दोनों ही पक्षों के समुचित विकास पर ध्यान दिया गया है। अतः अर्थ और काम के उपभोग की इच्छा को धर्म से नियन्त्रित और मर्यादित करने पर बल दिया गया है।

इस प्रकार काम को पुरूषार्थत्रयी में महत्वपूर्ण स्थान देने के बावजूद वैदिक आचार्यो के द्वारा यह निरन्तर प्रयास किया गया कि काम अनियंत्रित न हो जिससे कि सामाजिक विसंगति अथवा असंतुलन पैदा हो तथा काम भी धर्माधारित हो। यह शिक्षा देते हुए काम के व्यावहारिक पक्ष को उद्धाटित करने का प्रयास किया गया। वेद कालीन मूल्य और नैतिक शिक्षा का सबसे बड़ा उदाहरण काम को साधन मूल्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसके अतिरेक से बचने का व्यवस्थित ढ़ाँचा तैयार किया गया था। वेद कालीन इस शिक्षा और जीवन दर्शन का वर्तमान में भी महत्व इस नाते बहुत बढ़ जाता है कि अब काम सम्बन्ध नितान्त व्यक्तिगत माना जा रहा है और वह उन्मुक्तता और स्वेच्छा चारिताक को धुर समर्थन प्रदान करता है जबकि वैदिक कालीन काम की शिक्षा व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक सरोकारों से बंधी हुई थी क्योंकि काम को धार्मिक मूल्य से समर्थित होना आवश्यक था। अतएव काम केवल एक स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति नहीं थी वरन् वैदिक काल में यह सामाजिक संतुलन से भी गहरे रूप में सम्बद्ध थी और नैतिकता का शुभ्र आदर्श थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भगवानदास – 'पुरूषार्थ', सं0 2023, 1966, वाराणसी, पृ0 47

2. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ – 'पुरूषार्थ – चतुष्टय', पृ0 5, प्रथम संस्करण, वाराणसी

3. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 5

4. उणादि सूत्र, 2.4

5. अग्नि पुराण – धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरूषार्था उदाहृताः।

6. धर्म (कर्तव्य), अर्थ (धन), काम (इच्छा), मोक्ष (जन्म और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति) – इन चार का मानवीय मूल्यों के उल्लेख के सम्बन्ध में देखिए– – लाल, कनवर – 'द कल्ट ऑव डिजायर',तृतीय संस्करण,1982, दिल्ली पृ.19 –देवराज, एन.के. – 'दि माइण्ड ऐण्ड स्पिरिट ऑव इण्डिया', पृ0 96, वाराणसी, 1967

7. 'पुरूषैः अर्थ्यते इति पुरूषार्थः' इसके अनुसार मनुष्यों के द्वारा जिसकी इच्छा या कामना की जाती है, वही पुरूषार्थ है।

   द्र. – हिरियन्ना, एम. – 'इण्डियन कान्सेप्शन ऑव वैल्यूज', पृ0 6–7

8. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 4

9. क्रील, आस्टीन बी. – 'धर्म इन हिन्दू इथिक्स' – प्रथम संस्करण, कलकत्ता, 1977, पृ0 10

हिरियन्ना ने धर्म और मोक्ष को आध्यात्मिक मूल्य तथा अर्थ और काम को सांसारिक मूल्य माना है। - उद्धृत क्रील, आस्टीन बी. पूर्वोद्धृत, पृ. 51-52

10. क्रील, आस्टीन बी., पूर्वोद्धृत, पृ0 11

11. तदैव, पृ0 9, 48

12. "…. जगत् को धारण करने के लिए ईश्वर के बनाये हुए नियमों के अनुकूल एवं जीवात्माओं का धारण-पोषण और अभ्युदय करने वाली मनुष्य की कायिक, वाचिक और मानसिक सक्रियाओं को 'धर्म' कहते हैं और इसके विपरीत उनके शास्त्र-विरुद्ध आचरणों को (अर्थात् असत् क्रियाओं को) अधर्म कहते हैं।" - त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ. 30-31 पर उद्धृत।

13. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 42

14. 'वर्षति अभीष्टान् कामान इति वृषः।' - अर्थात् प्राणियों की सुख-शान्ति के लिए उनके अभिलषित पदार्थों की, जो वृष्टि करता उसको 'वृष' कहते हैं। - त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 42

15. 'पुनाति, इति पुण्यम्' - अर्थात् जो प्राणियों के मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और कर्म को पवित्र कर दे, उसको 'पुण्य' कहते हैं। - त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 43

16. धर्म और समाज - डॉ0 राधाकृष्णन, पृ0 175 (हिन्दी अनुवाद)

17. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 - पी0वी0 काणे, पृ0 8

18. जी.एच. मीज महोदय का मत है कि 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'धर' से हुई है। (मीज, जी. एच. – 'धर्म ऐण्ड सोसाइटी', ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लन्दन, 1953), परन्तु संस्कृत साहित्य के धातुपाठ में यह शब्द नहीं मिलता। वस्तुतः 'धर' 'धृ' धातु की विकृति मात्र है।

19. देवराज, एन.के., पूर्वोद्धृत, पृ0 158–59

20. 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति कई तरह की है –

    क. 'वर्षति अभीष्टान् कामान् इति वृषः' अर्थात् प्राणियों की सुख-शान्ति के लिए, उनके अभिलषित पदार्थो की जो वृष्टि करता है – उसको 'वृष' (धर्म) कहते हैं।

    ख. 'पुण्य' शब्द 'पुञ्' 'पवने' धातु से 'डुण्य' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति है – पुनाति, इति पुण्यम् अर्थात् जो प्राणियों के मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और कर्म को पवित्र कर दे, उसको पुण्य कहते हैं। – द्रष्टव्य – त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 42–43

21. स्वामी, निर्वेदानन्द – 'हिन्दुइज्म ऐट ऐ ग्लान्स', द्वितीय संस्करण, 1946, बंगाल, पृ0 17 – पाण्डे, गोविन्दचन्द्र – 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर', नई दिल्ली, 1981, पृ0 67

22. क्रील, आस्टीन बी., पूर्वोद्धृत, पृ0 3

23. धारणाद्धर्ममित्याह धर्मो धारयते प्रजाः।

यत् स्वाद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।। –महाभारत, कर्णपर्व, 69.58

हिरियन्ना, एम. – 'इसेन्शियल ऑव इण्डियन फिलासॅफी', 1978

24. कॉलर, जॉन एम. – 'धर्म : ऐन एक्स्प्रेशन ऑव यूनिवर्सल ऑर्डर', फिलॉसफी ईस्ट ऐण्ड वेस्ट 22 (1972) : 134

25. क्रील, ऑस्टीन बी., पूर्वोद्धृत, पृ0 11

26. तु0 – देवराज,एन.के., पूर्वोद्धृत, पृ0 159

27. धर्म की परिभाषा के सम्बन्ध में द्रष्टव्य – 'सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन', प्रथम संस्करण, न्यूयार्क, 1958, पृ0 220-21

28. जैमिनिसूत्र, 1.1.2

– सिंह, रणजीत – 'धर्म की हिन्दू अवधारणा', इलाहाबाद, 1977, पृ0 35-36

– मैत्रा, सुशील कुमार – 'द इथिक्स ऑव द हिन्दूज', तृतीय संस्करण, कलकत्ता, 1963, पृ0 90-92

– सेन, मधु, पूर्वोद्धृत, पृ0 5

– अय्यर, वी.एस. शिवस्वामी, 'इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियल्स', 1976, दिल्ली, पृ0 14

29. धर्म का तात्पर्य है – कर्तव्य या कर्म। द्रष्टव्य – महादेवन्, टी.एम.पी., 'आउटलाइन्स ऑव हिन्दूइज्म' – नई दिल्ली, 1984, पृ0 54

30. संसार में मनुष्य का अभितः उदय – सब ओर से उदय होना, अर्थात् सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होना (उन्नत होना) अभ्युदय कहलाता है। द्रष्टव्य – त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 14

संसार से मनुष्य का 'अभितः' चारों ओर 'उदय' होना, सुखी होना यह 'अभ्युदय' है। - डॉ0 भगवानदास, पूर्वोद्धृत, पृ0 49

31. "नास्ति श्रेयान् यस्मात् तत् निःश्रेयसम्"। जिससे बढ़कर और कोई श्रेयान् (श्रेष्ठतम फल) न हो,उसको 'निःश्रेयस्' अर्थात् मोक्ष कहते हैं। द्रष्टव्य - त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 14

32. "यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः" - वैशेषिक सूत्र, 1.1.2
   - सिंह, रणजीत, पूर्वोद्धृत, पृ0 36
   - सेन, मधु, पूर्वोद्धृत, पृ0 5
   - पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 103

33. तु. - त्रिपाठी, हरिहर नाथ, - 'प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका', 1965, पृ0 5, 6 तथा आगे।

शंकराचार्य ने भी धर्म का लक्षण बताया है कि "जो इस जगत् की स्थिति का कारण एवं प्राणियों के अभ्युदय और मोक्ष का साक्षात् हेतु है, श्रेय के अभिलाषी ब्राह्मणादि वर्ण और आश्रम वाले जिसका आचरण करते हैं,उसका नाम धर्म है।" - गीताभाष्य उपो. उद्धृत - त्रिपाठी, प्रेम वल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 30

34. ऋत के सन्दर्भ में देखिए - हिरियन्ना, एम., पूवोद्धृत, पृ0 150-51 - दास गुप्ता, एस. एन., पूर्वोद्धृत, पृ0 22, 37, 72 - 'स्टडीज इन दि कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया' - शिवलाल अग्रवाल ऐण्ड कम्पनी प्राइवेट लि0, हॉस्पिटल रोड, आगरा, पृ0 409-10

35. 'ऋत से ही धर्म का रूप विकसित हुआ।' - द्र. हरिहरनाथ त्रिपाठी, पूर्वोद्धृत, पृ0 8

36. हिण्डरी, आर., पूर्वोद्धृत, पृ0 50–52, काणे, पी.वी. – 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (तृतीय भाग), द्वि. सं., 1975, लखनऊ, पृ. 1016

37. द्रष्टव्य – यज्ञ और ऋत का विशेष सम्बन्ध था। ऋग्वेद में ऋत के कारण यज्ञों का सम्पादन होना बताया गया है (ऋ. 10.67.20)। यज्ञों में सोमपान समय भी ऋत के प्रभाव का वर्णन मिलता है (ऋ., 7.65.3)। इसके अतिरिक्त ऋत के दण्ड से अग्नि को प्रज्वलित करने का भी वर्णन मिलता है (ऋ., 9.75.2, 7.34.8)।

38. राधाकृष्णन, एस. – 'इण्डियन फिलॉसफी', वाल्यूम–1, लन्दन, 1948, पृ. 79, मैक्समूलर – हर्बर्ट लेक्चर्स, पृ. 244–45, उद्धृत – त्रिपाठी, हरिहरनाथ, पूर्वोद्धृत, पृ. 7

39. द्रष्टव्य – त्रिपाठी, हरिहरनाथ, पूर्वोद्धृत, पृ0 8

40. "... ऋत (जगत्सम्बन्धी व्यवस्था), व्रत वे नियम या अनुशासन जो देवों द्वारा व्यवस्थित हुए हैं (तथा धर्म) धार्मिक कृत्य या यज्ञ या स्थिर सिद्धान्त। इन तीनों में ऋत शब्द लुप्त सा हो गया (पृष्ठभूमि में पड़ गया) और उसके स्थान पर सत्य शब्द आ गया और धर्म शब्द सबको स्पर्श करने वाली पवित्र संकल्पों एवं आचार सम्बन्धी नियमों तक सीमित रह गया।" – काणे, पी. वी. – 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पंचम भाग, 1973, पृ0 396

41. ब्राउन, डब्ल्यू. एन. – 'माइथालॉजी आफ इण्डिया', पृ0 284, 1961, उद्धृत हरिहरनाथ त्रिपाठी, पूर्वोद्धृत, पृ0 7

42. सामान्य धर्म के सम्बन्ध में देखिए – पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 8–9

43. द्रष्टव्य - आयंगर, के.वी. रंगास्वामी - 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑव एन्शियेन्ट इण्डियन पालिटी', पटना, 1988, पृ0 89-90

44. "मूल रूप में धर्म कर्तव्यों की एक व्यवस्था की अभिव्यक्ति करता है, जिसमें व्यक्ति स्वयं ही अपने अन्तस् में आध्यात्मिक अनुभूति करता है तथा नैतिकता को जीवन में आचरित करता है।" उद्धृत - पाण्डेय, जी. सी. - 'द मीनिंग ऐण्ड प्रोसेस ऑव कल्चर', आगरा, 1972, पृ0 97

45. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 192

46. "वस्तुतः धर्म आचरण की संहिता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्तित्व के रूप में नियन्त्रित होता हुआ क्रमशः विकसित होता है और अन्त में चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है।"

47. राधाकृष्णन्, एस., 'रिलिजन एण्ड सोसायटी', 1966, पृ0 104

48. हिरियन्ना, पूर्वोद्धृत, पृ0 193-94

49. सत्य और धर्म के परस्पर सम्बन्ध के बारे में देखिए - "... बलवान् का सामना निर्बल धर्म से करता है, जैसे राजा के समक्ष। जो धर्म है, वह सत्य ही है, इसीलिए सत्य बोलते हुए को कहते हैं कि धर्म की बात कह रहा है, धर्म की बात कहते हुए को कहते हैं कि सत्य कह रहा है, दोनों ही एक होते हैं।" उद्धृत - पाण्डे, जी. सी. - 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर', पृ0 62

50. वृह. उप., 1.4.2-3, छा. उ., 1.12.2-5

51. शान्तिपर्व, 34.103, 62.10-11, 149.33, 204.7-10

52. शान्तिपर्व, 156.3-5, अयोध्याकाण्ड, 101.10-14, बोरा, डी. पी., पूर्वोद्धृत, पृ0 218

53. 'धर्म' अधिकारों और कर्तव्यों की आदर्श व्यवस्था है ...' - पाण्डे, जी. सी. मूल्यमीमांसा, पृ. 112

54. महाभारत, शा. प., 161.3-27

55. महाभारत, आदिपर्व, 11.13

56. शान्तिपर्व, 21.10-11, 37.7, 60.7.8

57. महा., शान्तिपर्व, 60.8 - सिंह, रणजीत, पूर्वोद्धृत, पृ0 62-63

58. दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारूष्यमेव च।

    अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।। - गीता, 16.4

59. गीता, 16.2-3

60. गीता, 16.21

61. कौटिल्य ने विशिष्ट धर्म अथवा वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, कुलधर्म, राजधर्म, युगधर्म तथा व्यक्तिगत-धर्म के पालन पर स्वयं बल देने के अतिरिक्त राजा को भी निर्देश दिया है। - अर्थशास्त्र, 3.1.50, 53, 55 द्रष्टव्य - मिताक्षरा, याज्ञ., 1.1

62. गीता (3.35) के अनुसार - "दूसरों का धर्म चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसकी अपेक्षा अपना धर्म या स्वधर्म ही अधिक श्रेयस्कर और श्रेष्ठ होता है, चाहे वह स्वधर्म, विगुण (या सदोष) ही क्यों न हो।" इसके

अतिरिक्त स्वधर्म के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए – देवराज एन.के., पूर्वोद्धृत, पृ. 179-80 तथा आगे।

63. द्रष्टव्य – 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन', पृ. 224-26

64. ऋग्वेद, 5.54.7 में 'ऋषि' और 'राजन्' तथा 1.108.7 में 'ब्रह्मन' और 'राजन्' का उल्लेख प्राप्त होता है।

65. 'पुरोहितों' के सम्बन्ध में देखिए – ऋ. 2.33.53, 7.18.83, 10.98

66. ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरुतदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्।। ऋ, 10.9.12

67. जैन, पी.सी., 'लेबॅर इन एन्शियेन्ट इण्डिया', प्र. सं., नई दिल्ली, 1971, पृ. 4, 5

68. ऐ. ब्रा., 35.2, तै. सं. 6.2.75 इत्यादि

द्रष्टव्य, वोरा, डी.पी., पूर्वोद्धृत, पृ0 186-87

69. वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में द्रष्टव्य – पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 9-10

70. भगवद्गीता, याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णाश्रम अनुकूल कर्तव्यों के पालन के अर्थ में ही 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है।

71. द्रष्टव्य – हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 196, क्राउफोर्ड, एस. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 211-12

72. हिरियन्ना, पूर्वोद्धृत, पृ0 196-97, क्राउफोर्ड, एस. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 212-13

73. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 197, क्राउफोर्ड, एस. सी., पूर्वो0, पृ0 213-14

74. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 197-99, क्राउफोर्ड, एस. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 214

75. आश्रम व्यवस्था एवं आश्रम धर्म के सम्बन्ध में देखिए - कार्वे, इरावती - 'किंग्शिप ऑर्गनाइजेशन इन इण्डिया', पूना, 1953, पृ0 68-69, जैन, सागरमल, पूर्वोद्धृत, पृ0 184-86

76. हिण्डरी, आर., 'कम्परेटिव इथिक्स इन हिन्दू ऐण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीशन', प्रथम संस्करण, दिल्ली, 1978, पृ0 80-81

77. महा., शा. प. 191.8 - ब्रह्मचारी के कर्तव्य के सम्बन्ध में द्रष्टव्य - 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन, पृ0 228-30

78. मनु., 3.77

79. मनु., 6.90

    यथा - नदी नद्याः सर्वे सागरे यानंति संस्थितम्।

    तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितम्।।

80. मनु., 6.35, महा. शा. प., 63.20-21, मनु., 6.37

81. शत्. ब्रा., 1[illegible].5.6.1, तै. आर., 2.10 - पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्यज्ञ इति।

82. गृहस्थाश्रम के कर्तव्य के सम्बन्ध में देखिए – 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन', पृ. 230–232

83. मनु., 6.30 – वानप्रस्थाश्रम में वानप्रस्थी सभी सुखों को त्यागकर एकाकी जीवन व्यतीत करना चाहता है, क्योंकि उसे यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि जीवन अकेले ही गुजारना है। – राधाकृष्णन्, एस., 'द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ', मैकमिलन, 1965, पृ. 64

84. क्राउफोर्ड, एस. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 65, 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन', पृ0 233–35

85. प्रभु, पी. एच. – 'हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन', तृ0 सं0, 1958, पृ0 94, 101

86. कार्वे, इरावती, पूर्वोद्धृत, पृ0 69

87. कार्वे, इरावती, पूर्वोद्धृत, पृ0 70

88. जैन, सागरमल, पूर्वोद्धृत, पृ0 186

89. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए – 'धर्मशास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग, पृ0 264–65

90. 'अर्थ' की महत्ता के सम्बन्ध में देखिए – देवराज, एन. के., 'दि माइण्ड ऐण्ड स्पिरिट ऑव इण्डिया', पृ0 335–36

91. डॉ0 गोपान भारतीय सामाजिक संस्थायें, पृ0 27 गग

92. डॉ0 के. एम. कापडिया - भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ0 51-52

93. देवराज, एन. के. - पूर्वोद्धृत, पृ0 96-97

94. ऋ, 1.1.3 - "अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वरिवत्तमम्।।"

95. ऋ. 2.12.15

96. ऋ. 7.77.4

97. ऋ. 7.77.5

98. ऋ. 7.77.6

99. ऋ. 10.121.10

100. ऋ. 1.24.1

101. ऋ. 7.24.5, 1.24.3, 2.38.11

102. ऋ. 1.25.12

103. ऋ. 1.24.14

104. ऋ. 1.25.1, 5

105. ऋ. 1.25.15

106. ऋ. 1.25.4

107. ऋ. 1.116.25

108. द्रष्टव्य – वैदिक इण्डक्स, भाग–1, पृ. 99, इसमें उल्लिखित उर्वरा – सा, क्षेत्रपति, क्षेत्र सा आदि शब्द कृष्ट भूमि पर पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकार का संकेत करते हैं। – ऋ. 1.110.5, 8.91.5, 6, 10.34.10, 11

– शर्मा, आर. एस. – 'फार्म्स ऑव प्रापर्टी इन द अर्ली पोर्शन्स ऑव द ऋग्वेद', 'इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस', वाल्यूम–1, प्रोसीडिंग्स ऑव थर्ड सेशन, चण्डीगढ़, 1973, पृ0 96

109. ऋ. 10.90.12

110. तु. – सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन, पृ0 15

111. अथ., वृह. उप., चतुर्थ अध्याय, प्रथम ब्राह्मण

112. अथ., वृह. उप., द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण

113. महा. 12.20.10, 12.26.25

114. महा. 12.20.11, 14

115. देवराज, एन. के. – 'दि माइण्ड ऐण्ड स्पिरिट ऑव इण्डिया', पृ0 99 पर उद्धृत।

116. देवराज, एन. के., पूर्वोद्धृत, पृ0 99

117. महा., उद्योगपर्व, 72.23–4

118. महा. 5.70.24, 12.8.19, 20

119. महा. 12.161.15-18

120. महा. 12.15.3, 35

121. दीघनिकाय, 3.8.2

122. वही, 3.8.4

123. वही, 3.8.4

124. वही, 3.3.4

125. सुतनिपात, 26.29

126. मज्झिमनिकाय, 2.32.4

127. अथ., 1.7.6, 7

128. राजा के आचरण के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार देखिए - देवराज, एन. के., पूर्वोद्धृत, पृ0 122, अर्थ. 1.70.10, 11

129. यद्यपि कौटिल्य ने त्रिवर्ग का समान सेवन बताया है, किन्तु यह भी कहा है कि धर्म, अर्थ और काम में 'अर्थ' ही मूल है, क्योंकि 'धर्म' और 'काम' 'अर्थ' पर ही निर्भर हैं। - अर्थ. - 1.7.10-11

130. अर्थ. 15.1.27

131. अर्थ. 1.77

132. द्र., ऋ. 10.129

133. द्रष्टव्य, कॅवरलाल - 'द कल्ट ऑव डिजायर' (तृ. सं.), 1982, दिल्ली, पृ0 5-6 पर उद्धृत

134. द्रष्टव्य - फायड, सिम्मण्ड, - 'जनरल इण्ट्रोडक्शन टू साइको-एनैलिसिस'

135. देवराज, एन. के., पूर्वोद्धृत, पृ0 81

136. काम के सम्बन्ध में देखिए - देवराज, एन. के., पूर्वोद्धृत, पृ0 81, 82 और आगे।

137. अय्यर, पी. एस. एस. - 'इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियल्स, पृ0152

138. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 289

139. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 291

140. भाग, 3.26, 27 .

141. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य - त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 289-293

142. कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुम् असति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।। - ऋ. 10.120
सोऽकामयतः बहुस्यां प्रजायेय।
काममयः एवायं पुरूषः। - उपनिषद

143. कामसूत्र 2.11

144. शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः।
फलभूताश्च धर्मार्थयोः।। - कामसूत्र, 2.36

145. वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र', चौखम्बा प्रकाशन, पृ. 13

146. वही, पृ. 14

147. वात्स्यायनकृत कामसूत्र - 5, जयमंगलाटीका, पृ. 4

148. जायसवाल, सीताराम, 'व्यक्तित्व सिद्धान्त', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1981, पृ0 30

149. काणे, पी. वी. - 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पंचम भाग, पृ0 334

150. गोपाल, लल्लनजी तथा यादव, 'भारतीय संस्कृति', गोरखपुर, 1962, द्वि. सं. पृ0 27

151. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 29

152. गोपाल, लल्लनजी तथा यादव, पूर्वोद्धृत, पृ0 27

153. पाण्डे, जी. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 99

154. तु. - पाण्डे, जी. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 97-99

155. अय्यर, सर पी. एस. एस., पूर्वोद्धृत, पृ0 152-53

- पाण्डेय, राजबली 'भारतीय नीति का विकास', पृ0 29

156. पाण्डे, जी. सी., पूर्वोद्धृत, पृ0 124 पर उद्धृत

157. ऋ. 10.129

- दामोदरन्, के. - 'भारतीय चिन्तन परम्परा', नयी दिल्ली, पृ0 40-41

158. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 315

159. छान्दोग्य उप., 7.22.1

160. न सोपरायः प्रतिभाति बाले प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापाद्यते मे।। कठ.उप.1.2.6

161. द्र. – देवराज, एन. के., पूर्वोद्धृत, पृ0 138

162. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ0 4

163. पाण्डे, जी. सी., 'मूल्यमीमांसा', पृ0 101

164. हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ0 10

– पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ0 78–81

165. ''प्रकृति की, धरती माता की – उत्पादकता को मानव प्रजनन की प्रक्रिया का अनुकरण करके बढ़ाया अथवा आकर्षित किया जा सकता है और इसी प्रकार मानव उर्वरता 'प्राकृतिक' उर्वरता से सम्बद्ध है।'' – देवीदास चट्टोपाध्याय, 'लोकायत्' 20, पृ0 63, उद्धृत, के. दामोदरन्, पूर्वोद्धृत, पृ0 85

166. उदान, जात्यन्धवर्ग, 8

167. गीता, 7.11

168. महा. शा. पर्व, 5.122, 34

169. महा. शा. पर्व, 12.161.11, 13

170. महा. वनपर्व, 33.42

171. राधाकृष्णन् – 'रिलिजन ऐण्ड सोसाइटी', पृ0 105-06

172. द्रष्टव्य – पाण्डे, जी. सी., 'मूल्यमीमांसा', पृ0 74

173. महा., 12.161.30

174. महा., 5.38.16, 12.28.43, 12.123.7-9

175. महा., 13.112.17

176. धर्म, अर्थ और काम के परस्पर सम्बन्ध के विषय में देखिए – एल. राबर्ट – 'द क्लासिकल लॉ ऑव इण्डिया', अनु. जे. डी. एम. डेरर्ड, यूनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, लन्दन, 1973, पृ0 5

177. अर्थ., पृ0 1.7.9
धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्। एकोहि अत्यसेवितो
धर्मार्थकामोनामितरौ पीडयति।।

178. अर्थ., 1.7.8 – "सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्म का अनुष्ठान सकामभाव से न करके निष्कामभाव से ही करते हैं। अर्थ का उपार्जन 'त्यागाय संभृतार्धानाम्' के अनुसार त्याग के लिए करते हैं और काम का सेवन 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' के अनुसार शरीर के रक्षण क लिए करते हैं।" – त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ – 'पुरुषार्थ चतुष्टय', पृ0 15

179. सोमदेवनीतिसूत्राणिस – अर्थशास्त्र, मैसूर प्रकाशन, खण्ड-2, पृ0 28

180. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव वा।
अर्थ ऐवह वा श्रेयः त्रिवर्ग इति तु स्थिताः।। – मनु., 2.224

181. कामसूत्र, 2.14
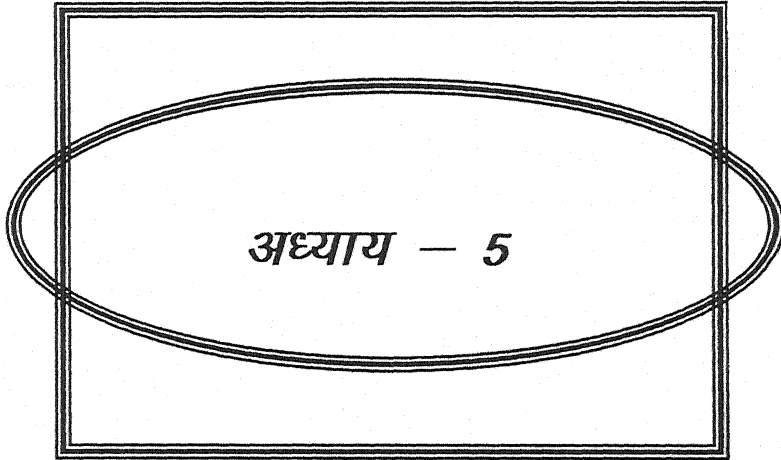
अध्याय – 5

वैदिक मूल्य शिक्षा का परम लक्ष्य – मोक्ष (साध्य मूल्य)

मोक्ष :

'मोक्ष' की अवधारणा भारतीय मूल्य-परम्परा की उच्चतम परिणति है।[1] विभिन्न पुरूषार्थ अथवा मूल्य मानव के लिए आदर्श जीवन व्यतीत करने के आधारभूत स्तम्भ हैं। भारतीय मूल्य व्यवस्था में धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग की चरम परिणति चतुर्थ वर्ग के रूप में 'मोक्ष' की अवधारणा में प्राप्त होती है। किन्तु इस चतुर्थ वर्ग तक पहुँच पाना हर व्यक्ति के बस की बात नहीं थी।[2] इसकी दुःसाध्यता के कारण ही इसे चारों पुरूषार्थो में सर्वोच्च स्थान दिया गया और त्रिवर्ग की भौतिकता से परे आध्यात्मिक उपलब्धि होने के कारण उसकी विशिष्टता स्थापित हुई।

जीवन के चरम लक्ष्य की खोज भारतीय मनीषा की सहज-स्वाभाविक रूचि रही है। वैदिक विचारों का सम्पूर्ण विकास इसी दिशा में हुआ है, यही बौद्ध एवं जैन धर्मो का गन्तव्य है। विविध भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के सूक्ष्म अवगाहन से विदित होता है कि सामान्य रूप से भारतीय चिन्तन धारा का झुकाव जीवन के चरम लक्ष्य के संधान एवं उसकी उपलब्धि की ओर है। यद्यपि यह झुकाव लचीला है कि मोक्ष स्वरूपतः वैविध्यपूर्ण प्रतीत होता है। भारतीय दार्शनिक साहित्य में मानव जीवन के चरम साध्य को मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग आदि नामों से अभिहित किया गया है। नाम के साथ-साथ इसके स्वरूप को लेकर भी

मतभेद है, जो प्रायः दर्शन विशेष की मान्यताओं की उपज है। सामान्यतः इसके दो अर्थ हैं। संकुचित दृष्टि से इसका अर्थ "जीवन-मुक्ति" है। इस मुक्ति का तात्पर्य "मृत्यु के बन्धन से छुटकारा" पाना ही है, परन्तु व्यापक अर्थ में "मोक्ष" का अभिप्राय "सर्वतोमुखी स्वतन्त्रता", सभी प्रकार के बन्धनों से रहित हो जाना है। इसी जीवन में जब जीव भेद-बुद्धि के रहित हो जाता है, तब "मुक्तावस्था" आ जाती है ओर "मुक्तावस्था" आते ही मनुष्य परमानन्द में लीन हो जाता है। अन्यथा मृत्यु के पश्चात् "मोक्ष" या मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। तत्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति ही "मोक्ष" है - "तत्वज्ञानात्रिश्रेयसाधिगमो मोक्षः।[3] इसी तत्वज्ञान को मनुष्य की पूर्णावस्था एवं सर्वतोमुखी तृप्ति की दशा कहा गया है। यह आत्यान्तिक दुःख का परित्याग हैं। इस बिन्दु या स्थिति पर मनुष्य तीन सोपानों - धर्म, अर्थ एवं काम को पार करके पहुंचता है। यह मानव-विकास की चरमावस्था है। श्री गौरीशंकर भट्ट ने "मोक्ष" को व्याख्यायित करते हुए इसी सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्ति किए हैं - 'मोक्ष वह अवस्था है, जहाँ जीव एक ओर संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और दूसरी ओर वह ईश्वर में लीन हो जाता है। xxx धर्म, अर्थ और काम जीव को समाज में बाँधते हैं, लेकिन मोक्ष इनसे छुटकारा दिलाता है। अर्थ और काम सामाजिक हैं, लेकिन मोक्ष वैयक्तिक।"[4] व्यक्ति समूह या समाज से विलग होकर धर्म, अर्थ और काम साधना के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः मोक्ष से "आवागमन के बन्धन से मुक्ति" का अर्थ लेना इसे नितान्त संकुचित कर देना ही है। जीवन-मुक्ति का यथार्थ अर्थ इसी जीवन से सम्बन्धित है।

"जीवन के पश्चात् मोक्ष की बात करना उसे मूल्यों की कोटि से च्युत करना होगा।"

शाब्दिक दृष्टि से मोक्ष का अर्थ है 'मुक्ति' और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य परम्परा में इससे साम्य रखने वाले अनेक शब्द प्रचलित हैं। अमरकोष[5] में इन प्रचलित शब्दों की गणना इस प्रकार की गयी है – मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, निःश्रेयस्, अमृत, मोक्ष और अपवर्ग। उपनिषद् और गीता में मुक्ति, मोक्ष एवं अमृत या अमृतत्व शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में नहीं हुआ है, किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद्'' 'में 'केवलः' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है गुणों से रहित या शुद्ध चेतना के रूप में पृथक्। गीता में 'निर्वाण' और 'ब्रह्म निर्वाणम्' शब्द का प्रयोग मिलता है। गीता के अनुसार 'वह योगी, जिसने मन पर अधिकार कर लिया है और सदा योगाभ्यास करता रहता है, मुझमें अवस्थित शान्ति पाता है, वही सर्वोच्च निर्वाण है'[6ए] एवं "ब्रह्म में परमसुख ही ब्रह्म निर्वाण है।"[7] 'श्रेयस्' शब्द का प्रयोग उपनिषदों[8] एवं गीता[9] में हुआ है। 'श्रेयस्' का अर्थ है – "उससे अपेक्षाकृत अच्छा"। कठोपनिषद्[10] में 'निःश्रेयस्' या 'मुक्ति' का उल्लेख है। 'नास्ति श्रेयान् यस्मात्', जिससे बढ़कर और कोई श्री, श्रेयान् न हो वह 'निःश्रेयस्'।[11] कौषीतकि उपनिषद्[12] और गीता[13] में भी इसका उल्लेख है। पाणिनि[14] ने 'निःश्रेयस्' शब्द की गणना उन 25 शब्दों में की है जो अनियमित कहे जाते हैं और महाभाष्य ने इसकी व्याख्या – निश्चितं श्रेयः'[15] की है। 'अमृत' शब्द का प्रयोग उपनिषदों एवं भगवद्गीता[16] आदि में हुआ है। मानव जन्म-मरण के चक्र में अपनी तृष्णा के कारण बँधा रहता है। जब आत्मन् इन सबसे छुटकारा पा लेता है और ब्रह्म की

अनुभूति कर लेता है तो ऐसा कहा जाता है कि यह अमर हो गया है या इस आत्मा ने अमरता प्राप्त कर ली है।[17] मोक्ष शब्द श्वेताश्वतर उपनिषद![18] एवं गीता[19] में प्रयुक्त हुआ है। 'अपवर्ग' शब्द का प्रयोग केवल मैत्री उपनिषद्[20] में हुआ है और न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र द्वारा यह लक्ष्य के रूप में निर्धारित है।

'मोक्ष' और 'मुक्ति' दोनों 'मुच्' (स्वतन्त्र हो जाना) धातु से आविर्भूत हैं। 'मुच्' के क्रिया रूप बहुधा अमरता के साथ प्रयुक्त होते हैं।[21] इस प्रकार – "मुच्यते सर्वैर्दुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः" अर्थात् जिस पद की प्राप्ति से जीव आध्यात्मिक आदि समस्त दुःख बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसे 'मोक्ष' कहा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'मुदित' भी है। 'मुक्ति' शब्द भी 'सुच्लृ मोचने' इस धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर बना है। इसका अर्थ है – "बन्धनों से छूट जाना।"[22] इस प्रकार 'मोक्ष' को 'दुःखों का नाशक' कहा गया है[23] एवं 'मुक्ति' ऐसा कहने मात्र से ही प्रतीत होता है कि – "किसी बन्धन से मुक्ति।" भारतीय दार्शनिकों के अनुसार वह बन्धन अनादि कर्म प्रवाह द्वारा निर्मित संसार रूपी बन्धन है। दूसरे शब्दों में, यह भवचक्र ही बन्धन है और इसी से मुक्ति पाने हेतु सम्पूर्ण दर्शनों की रचना हुई है। यत्किंचित् वैभिन्न्य के साथ अधिकांशतः सभी दार्शनिकों ने 'इस संसार से आत्यन्तिक निवृत्ति'[24] अथवा 'दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति'[25] को ही 'मोक्ष' माना है। वस्तुतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से दुःख का कारण 'संसार' ही है। कतिपय दार्शनिकों ने दुःख का मूल कारण 'अज्ञान' माना है।[26] अतएव इनके अनुसार – "अज्ञान रूपी आवरण से छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है।"[27] किन्तु प्रत्यक्ष रूप से यह भवचक्र ही दुःखों का मूल कारण है और अज्ञान उसका सह–कारण है। इसलिए हम कह सकते हैं कि संसार से उपरम हो

जाना ही जीव का मोक्ष है। इसे हम मोक्ष का सर्वमान्य लक्षण भी मान सकते हैं। काव्यकारों ने भी सांसारिक प्रपंच से मोचन या निस्तरण को ही मोक्ष कहा है।[28] अतएव स्पष्ट है कि 'निवृत्ति रूप मोक्ष' ही मोक्ष का सामान्य अर्थ है, वह निवृत्ति चाहे संसरण की हो या दुःखों की हो अथवा अज्ञानता की हो।[29] किन्तु यदि 'सांसारिक-बन्धन से मुक्ति' ही 'मोक्ष' है तो यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही उठता है कि ''यह बन्धन किसका है?'' जिसकी मुक्ति हेतु हम प्रयत्न करते हैं। ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने की प्रक्रिया में ही 'जीवात्मा' की उद्‌भावना हुई और यह स्पष्ट किया गया कि आत्मन् और ब्रह्म अथवा परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष है और चूंकि ब्रह्म हर प्रकार की द्वैतात्मक अवरता-प्रवरता से परे 'परम' है,अतः मोक्ष परम ज्ञान और आनन्द की अवस्था है।

पूर्व वैदिक कालीन जीवन दर्शन में आध्यात्मिक तत्वों का प्रवेश नहीं हो सका था। परलोक सम्बन्धी विचारों की पूर्व-पीठिका के रूप में स्वर्ग तथा नरक की अवधारणाओं के सूत्र कहीं-कहीं बिखरे हुए अवश्य देखे जा सकते हैं। सूक्ष्मतः अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि परवर्ती काल में विकसित होने वाले आत्मा सम्बन्धी विचारों का मूल उद्‌गम ऋग्वेद का 'अस्य वामस्य' सूक्त ही है।[30] इसके अनुसार - ''जीवात्मा अमर्त्य नित्य और अमरणधर्मा है। चर्म-चक्षुओं से देखने पर तो इस विनश्वर शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता, किन्तु वास्तव में वह मरणधर्मा शरीर से सर्वथा भिन्न और अजर, अमर है। मर जाने पर वह (आत्मा) इस विनश्वर शरीर को पड़ा छोड़कर अपने कर्मो के अनुरूप विभिन्न योनियों में विचरण करता है।''[31] जीवात्मा और परमात्मा की मूल कल्पना के दर्शन एक अन्य मन्त्र में भी होते हैं, जिसमें घने अन्धकार में एक वृक्ष (प्रकृति) में बैठे हुए

जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों का वर्णन है। जिनमें एक पक्षी (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों का आस्वादन कर रहा है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) फलों का आस्वादन न कर मात्र दर्शक बना बैठा है।[32] स्पष्ट है कि शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही जीवात्मा (भोक्ता) है और इनसे रहित होने पर मुक्तात्मा (नित्यात्मा) परमात्मा कहलाता है। किन्तु आत्मतत्व की स्पष्ट स्थापना सर्वप्रथम उपनिषदों में ही देखी जा सकती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा – "यह जो प्राणों में ज्ञानमय है, हृदय में अन्तर्ज्योति पुरुष है, वह एक है। वह दोनों लोकों में घूमता है, वह चिन्तन करता है इच्छा करता है, स्वप्न रूप होकर इस लोक को लाँध जाता है और मृत्यु लोकों का अतिक्रमण कर जाता है, वही आत्मा है।"[33] छान्दोग्य उपनिषद् का इन्द्र और प्रजापति का संवाद भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रमाणित करता है।[34] छान्दोग्य उपनिषद् का यह कथन भी कि – "जब किसी मनुष्य का मृत्यु काल निकट हो तो वह अपनी आत्मा को सम्बोधित करके कहे – तू अखण्ड है, तू अविनाशी है, तू जीवन का सार है"[35] भी आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व को स्पष्ट करता हैं उपनिषदों में इस आत्म तत्व को ही परमात्मा या परम ब्रहम की संज्ञा से अभिहित किया गया है एवं इसी एक मात्र यथार्थ तत्व (आत्मा) के सम्यग्दर्शन को ही 'मोक्ष–प्राप्ति' कहा गया है।[36]

वास्तव में 'ब्रहम' उपनिषदों का महत्वपूर्ण विषय रहा है। सृष्टि के सतत परिवर्तनशील पदार्थो और भूतमात्र के मूल में वर्तमान, कभी न बदलने वाले नित्य सत्व को उपनिषदों में ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। ब्रहह्म के तीन प्रकारों[37]

का वर्णन है - 1. सगुण, 2. निर्गुण, 3. सगुण-निर्गुण उभयात्मक। बृहदारण्यक और मैत्रायणी उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों को व्यक्त और अव्यक्त अथवा मूर्त और अमूर्त नाम दिया गया है तथा मूर्त रूप को असत्य की श्रेणी में रखा गया है।[38]

निस्सन्देह भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीवन में नैतिक और भौतिक विकारों तथा प्रमादों का नियन्त्रण तथा सत् तत्वों का स्थापन तथा वृद्धि रहा है। विकारों से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त हो और सद्गुण का विकास हो, यह प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। यही कारण है कि सभी दार्शनिक प्रणालियों में (चार्वाक को छोड़कर) 'मोक्ष' एक ऐसी अवस्था मानी गयी है, जब इन विकारों से एक अथवा दूसरे अर्थ में मुक्ति मिल जाती है।[39] चार्वाक का कथन है कि यदि मोक्ष का तात्पर्य आत्मा का शारीरिक बन्धनों से मुक्त होना माना जाए, तो यह असम्भव है, क्योंकि आत्मा नाम की कोई सत्ता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि जीवन काल में ही सभी दुःखों के अन्त को मोक्ष माना जाए तो भी यह असम्भव है, क्योंकि दुःखों का अन्त मृत्यु से ही सम्भव है। इसलिए चार्वाक मृत्यु को ही मोक्ष स्वीकार करते हैं।[40] किन्तु ऐन्द्रिक एवं भौतिक सुख क्षण-भंगुर होता है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार अग्नि में घी, ईधनादि हव्य सामग्री डालने पर अग्नि पुनः उग्र रूप से प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार इन कामनाओं (विषयों) का अधिक उपयोग करने से ये बढ़ती ही जाती हैं और इनके उपयोग से व्यक्ति कभी सन्तुष्ट नहीं होता।[41] इसलिए सांसारिक सुख, सुख न होकर वास्तव में दुःख ही है और उनमें अधिक रमने से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ये मनुष्य के अन्तःकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को नष्ट कर डालते हैं।[42]

इसलिए भौतिक सुखों के समर्थक चार्वाक को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शन 'मोक्ष' को जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं और इस अवस्था को सभी दुःखों के नाश एवं पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारे की स्थिति स्वीकार करते हैं।

मोक्ष की अवधारणा निस्सन्देह उत्तर वैदिक कालीन है और सर्वप्रथम उपनिषदों के काल में आकर इसने अपना स्पष्ट रूप प्राप्त किया। मुण्डकोपनिषद के अनुसार 'ब्रह्वविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रहम को जानने वाला ब्रहम हो जाता है।[43] स्पष्ट है कि ब्रहम से एकाकार हो जाना ही मोक्ष की स्थिति है। कठोपनिषद[44] का भी मत है कि – "जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है।" मोक्ष की दशा में न सुख रहता है, न दुःख रहता है। उस समय आत्मा सभी प्रकार की द्वैतात्मकता से ऊपर उठकर अपने विशुद्ध रूप में ही स्थित हो जाती है। चैतन्य का भी वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। क्योंकि मुक्त दशा में शरीर नहीं रहता है।[45] उपनिषदों में दान, तप, वेदाध्ययन, यज्ञ एवं उपवास द्वारा आत्मा विषयक ज्ञान सम्भव बताया गया है।[46] स्पष्ट रूप से उपनिषदों का मत है कि मानव का अन्तिम लक्ष्य ईश्वरत्व की जानकारी प्राप्त करना और उससे तादात्म्य स्थापित करना होना चाहिए, क्योंकि यह कार्य उसके लिए असम्भव नहीं है। मानव अहंकार स्वार्थपरता एवं सांसारिक विषयासक्ति से विमुख होकर परिश्रम से मोक्ष-प्राप्ति के इस अत्यन्त कठिन मार्ग को पार करके अपने ध्येय (मोक्ष) की प्राप्ति कर सकता है।[47]

धर्मसूत्रों के काल में भी आश्रम-धर्म के परिप्रेक्ष्य में मोक्ष का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में मानव-जीवन का चार आश्रमों में जिस प्रकार

सम्यक् विभाजन किया गया है, वह पुरूषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए ही प्रतीत होता है। विष्णु धर्मसूत्र में उल्लेख है कि – "गृहस्थ तीन पुरूषार्थो का सेवन करते हुए, निरन्तर अन्न दान देते हुए, देवों तथा ब्राह्मणों की पूजा करते हुए, स्वाध्याय एवं पितृतर्पण का सम्पादन करते हुए इन्द्र का परम-पद प्राप्त करता है।"[48] विष्णु धर्म सूत्र में अन्यत्र धर्मानुकूल उपार्जित धन को 'स्ववृत्युपार्जित' नाम दिया गया है और इससे देवत्व की सिद्धि बतायी गयी है।[49] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में धर्मानुकूल अर्थ और काम के सेवन से ही मनुष्य को दोनों लोकों की प्राप्ति सम्भव बतायी गयी है।[50] इस प्रकार धर्मसूत्रों में धर्म, अर्थ और काम के सम्यक् अनुपालन से ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव बतायी गयी है। क्योंकि इसके अनुपालन से जहाँ व्यक्ति में 'आध्यात्मिक गुणों' का विकास होता है, वहीं व्यक्ति के चित्त की शुद्धि भी होती है। मोक्ष की निश्चित प्राप्ति हेतु वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों की भी व्यवस्था की गयी है। वास्तव में धर्मसूत्र मोक्ष या आत्म-लाभ को ही 'परम लाभ' कहते हैं[51] और अपना यह मत उदारतापूर्वक व्यक्त करते हैं कि सुखवादी को मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।[52]

मोक्ष की अवधारणा अपने स्पष्टतम रूप में महाकाव्यों में प्राप्त होती है जिसमें सैद्धान्तिक और दार्शनिक दुरुहताओं में उलझे बिना मोक्ष-प्राप्ति को मानव-जीवन के लिए परम पद बताया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम का नियमपूर्वक पालन ही व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग पर ले जाता है। इन पुरूषार्थो की प्राप्ति से सन्तुष्ट मनुष्य जब अपनी आत्मिक उन्नति की ओर उन्मुख होता है तो उसकी पहली शर्त होती है 'अहं भाव' से मुक्ति। जो एक ओर तो राग-द्वेष की प्रवृत्तियों के नियन्त्रण से और दूसरी ओर वैयक्तिक

चरित्र के उन्नयन से सम्भव हो सकती है। इस हेतु कतिपय नैतिक गुणों – यथा अहिंसा, सत्य, क्षमा, अक्रोध, अचौर्य आदि का पालन अनिवार्य है, अतः इन गुणों को सुखकर तथा मोक्ष-प्राप्ति में सहायक माना गया है।[53] महाभारत के अनुसार त्रि-ऋणों का पालन करने वाला व्यक्ति ही देवयान से जाकर मोक्ष का अधिकारी होता है।[54] महर्षिगण तपस्या, स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य के बल से इसी प्रकार के लोक में जाते हैं, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं होता है।[55] वास्तव में जब हृदय की अज्ञानता-ग्रन्थि का नाश हो जाता है अर्थात् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब, इसी स्थिति को 'मोक्ष' कहा जाता है।[56] अन्तस् की अज्ञानता और भ्रामकता मनुष्य के लिए ब्रह्म की प्राप्ति में अवरोध बनती है। अतएव इस अज्ञानता के समाप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। गीता में एक स्थल पर स्पष्ट किया गया है कि "जो व्यक्ति निश्चयपूर्वक अन्तरात्मा में ही सुख वाला है, आत्मा में ही आराम वाला है और आत्मा में ही ज्ञान वाला है, ऐसा ही योगी परम ब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभूत होकर शान्त ब्रह्म को प्राप्त करता है।[57] इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण रखने से व्यक्ति को स्वयमेव मोक्ष प्राप्ति हो जाती है[58] एवं ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है।[59] क्योंकि मोक्षावस्था में मानव की समस्त आन्तरिक एवं बाह्य कामनाओं का नाश होता जाता है, इसलिए 'मोक्ष' ही यथार्थ सुख एवं दुःखों का नाशक है।[60] इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर प्राणिमात्र का मन से भी अहित न करना मानव जीवन का चरम आदर्श था।[61] वस्तुतः इस समय 'सुखं मोक्षसुखं लोके'[62] की विचारधारा ही जोर पकड़ रही थी एवं परम हितकर होने के कारण मोक्ष को ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य निर्धारित किया गया और उसकी ओर बढ़ने की प्रेरणा भी दी गयी।[63]

मोक्ष के स्वरूप के साथ उसके प्रकारों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। वस्तुतः मोक्ष सम्बन्धी धारणा के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये हैं।[64] छान्दोग्य उपनिषद्[65] में मुक्ति के तीन प्रकार माने गये हैं -

1. सालोक्य (एक ही लोक में वास) - भू से उठकर भुवः, स्वः, मह :, जनः, तपः आदि रूप प्रकाशमय शरीर प्राप्ति ही 'सालोक्यता' है।

2. सायुज्य (एक वृत्तिता प्राप्ति) - सायुज्य अर्द्धनारीश्वर की स्थिति है।

3. सार्ष्टि (समान ऐश्वर्य लाभ) - भग रूप भगवान सदृश ऐश्वर्य प्राप्ति।

भारतीय नीतिशास्त्रों में मोक्ष के स्वरूप एवं प्रकार के अतिरिक्त 'मोक्ष प्राप्ति के साधनों' पर भी विचार हुआ है। नीति शास्त्रज्ञों में विभिन्न मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक निर्माण तथा अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए तीन प्रकार के मोक्ष के साधनों का उल्लेख किया है

1. ज्ञान मार्ग,

2. कर्म मार्ग,

3. भक्ति मार्ग

ज्ञान मार्ग ज्ञान पिपासु के लिए है। बुद्धिजीवी और विचारशील मनुष्य ज्ञान और विचार के सन्दर्भ में ईश्वर के अव्यक्त और निराकार भाव के प्रति अपने को अनुरक्त करके ब्रह्मशक्ति से एकाकार होने का प्रयास करता है। ज्ञानी और विद्वान व्यक्तियों का यही आधार ज्ञान मार्ग है। सभी जीवों में समानता का भाव, आत्म ज्ञान की प्राप्ति और ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव 'ज्ञान' के अन्तर्गत आते हैं।

गीता में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। कतिपय विचारकों के अनुसार गीता में ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति का प्रतिपादन है।[66] योगवासिष्ठ में एक तत्व के अभ्यास को ज्ञान योग की संज्ञा दी गयी है। सभी भारतीय दर्शनों में अविद्या को समस्त दुःखों का मूल कारण बताया गया है और इसलिए तत्वज्ञान को मुक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। अविद्या को बुद्ध ने दुःखों का कारण और शंकराचार्य ने सभी बन्धनों का कारण माना है। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं – 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के अभाव में मुक्ति असम्भव है। गीता में कहा गया है कि अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशययुक्त व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं।[67] इसके विपरीत पापी से पापी व्यक्ति भी ज्ञान रूपी नौका का आश्रय लेकर पाप रूपी समुद्र को पार कर लेता है।[68] वस्तुतः इस जगत में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कुछ भी नहीं है।[69] क्योंकि ज्ञान अग्नि समस्त कर्मो को वैसे ही भस्म कर देती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईधन को भस्मीभूत कर देता है।[70] स्पष्ट है कि गीता में जहाँ एक ओर ज्ञान को मुक्ति का साधन बताया गया है वहीं दूसरी ओर अज्ञान को विनाश का साधन भी माना गया है। गीता के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार – 'तरति शोकमात्मवित्'[71] अर्थात् आत्मा को जानने वाला शोक से पार हो जाता है। मुण्डक उपनिषद में[72] भी कहा गया है कि – 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। स्पष्ट है कि ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य को जगत की मिथ्यात्मकता एवं अनित्यता का ज्ञान होता है एवं वह जगत् की वस्तुओं के प्रति विरक्त हो जाता है। वह शरीर और आत्मा के भेद को समझ लेता है। शंकराचार्य के अनुसार सभी उपनिषदों,

ब्रह्मसूत्र या गीता का एकमात्र प्रयोजन इसी ज्ञानमार्ग का उपदेश देना ही है। आत्म–तत्व को जान लेने के पश्चात वह जीवन–मुक्त की दशा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जीवन–काल में ही निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है। ऐसे व्यक्ति को ही बौद्ध धर्म में 'बोधिसत्व' और जैन धर्म में 'अर्हत्' कहा गया है।

भक्ति मार्ग भक्त एवं धार्मिक प्रवृत्ति वालों के लिए है। परमात्मा का अनन्य भक्ति से पूजन, मनन एवं पूर्ण आत्म–समर्पण ही भक्ति योग का आधार है।[73] भक्ति मार्ग के अन्तर्गत मनुष्य ब्रह्म के सगुण रूप की परिकल्पना करके (ब्रह्म की) उपासना करता है और अपने को पूर्ण रूप से ब्रह्म की सेवा में समर्पित कर देता है। ब्रह्म ही जीव का सर्वस्व हो जाता है – स्वामी, गुरू, माता, पिता, सखा आदि। उसके साकार रूप की उपासना होती है तथा उस तक पहुँचने के लिए अपार भक्ति की जाती है। गर्गाचार्य के अनुसार भगवान् की कथा आदि में अनुराग ही भक्ति है।[74] व्यास के मत में भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।[75] शाण्डिल्य ऋषि के विचार में आत्म रति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है।[76] "नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति" अर्थात् नारद ने सब कर्मो को भगवान् को अर्पण करना और भगवान् का थोड़ा सा भी विस्मरण होने में परम व्याकुल होना ही भक्ति माना है।[77] शाण्डिल्य सूत्र में ईश्वर के प्रति परम अनुराग या प्रेम को भक्ति कहा गया है। इसी अनुराग से ही जीव अमृतत्व को प्राप्त करता है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति मार्ग का अभिप्राय भगवान् के प्रेम से द्रवित होकर उनके साथ सविकल्प तादात्म्य भाव को ही बताया है।

पारमार्थिक दृष्टि से जगत की सत्ता आभासित अथवा मिथ्या होते हुए भी व्यावहारिक रूप से जगत सत्य है। जगत में अस्तित्व का आधार कर्म है और यद्यपि मोक्ष कर्म और कर्मफल दोनों से मुक्ति की अवस्था है, तथापि मोक्ष पाने के पूर्व जब तक देह धारण है, कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती। वास्तव में मोक्ष प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास भी कर्म ही है। अतः भारतीय परम्परा में मोक्ष प्राप्ति का एक मार्ग कर्म मार्ग भी बताया गया है, जो ज्ञान से समन्वित होकर गीता में निष्काम कर्म मार्ग का रूप ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः कर्म मार्ग का प्रतिपादन ही गीता का प्रमुख प्रयोजन है। सामान्यतया कर्म के तीन भेद माने जाते हैं -

1. नित्य कर्म - जिन्हें हमें प्रतिदिन जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।
2. नैमित्तिक कर्म - जिनको हमें विशेष अवसरों, अवस्थाओं या परिस्थितियों में करना पड़ता है।
3. काम्य कर्म - जो किसी फल की कामना की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। गीता में फल की आशा किए बिना निष्काम भाव से कर्म सम्पादन करने को ही 'कर्मयोग' कहा गया है।[78]

शुभ या अशुभ कर्म करने हेतु तो मनुष्य स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु उनके फल भोगने में वह परतन्त्र होता है। अतएव गीता में बिना फल की आशा के भगवत समर्पण बुद्धि से कर्म करने का उल्लेख है।[79] सकाम भाव से या फल की प्राप्ति की आशा से किये गये कर्मो से ही बन्धन होता है। जिस प्रकार कच्चा बीज जमीन में डालने से अंकुरित होता है, परन्तु भुना हुआ बीज डालने से नहीं, ठीक उसी प्रकार केवल फलासक्ति से किये गये कर्म ही बन्धन उत्पन्न करते हैं, अनासक्त भाव से किये गये कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते।''[80] अर्जुन को उपदेश

देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं – "तुम उचित कर्मो को करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करने से शरीर-धारण भी न हो सकेगा।"[81] योगवासिष्ठ में भी "कर्म ही पुरूष है और पुरूष ही कर्म है" – ऐसा कहकर मनुष्य को कभी भी कर्मो का परित्याग न करने का निर्देश दिया गया है।[82] कर्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है कि – "लोक संग्रह को ध्यान में रखते हुए कर्म करना चाहिए।" स्पष्ट है कि गीता में अपने लिए नहीं, अपितु लोक कल्याण हेतु कर्म करने को उचित बताया गया है। बिना अपनी किसी कामना के कर्म करने से बन्धन उत्पन्न नहीं होते हैं। अतएव "जिस व्यक्ति के समस्त कर्म कामना से रहित हैं, जिसकी कर्म फल में आसक्ति नहीं है, जो नित्य तृप्त है, वह कर्मो में लगा हुआ भी कोई कर्म नहीं करता है।"[83] गीता में कर्मो के परित्याग को भूल और हठधर्मिता बताया गया है।[84] प्रो० हिरियन्ना ने भी स्पष्ट किया है कि – "गीता का कर्म योग कर्म त्याग की नहीं, अपितु कर्म फल के त्याग की शिक्षा देता है। अनासक्त भाव से लोक संग्रह मात्र के लिए कर्म करता हुआ व्यक्ति अन्त में परम पद को प्राप्त होता है।" गीता में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि निष्काम कर्म करने में कठिनाई हो तो समस्त कर्मो को भगवान को समर्पित करके, उसको प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करना चाहिए। ऐसा करने से वह पाप से वैसे ही बच जाता है, जैसे कमल का पत्ता पानी से।[85] इस प्रकार का आचरण करने वाला व्यक्ति अन्त में अव्यय और शाश्वत पद (अथवा परम पद) को प्राप्त कर लेता है।[86] स्पष्ट है कि गीता का निष्काम कर्म योग भक्ति मिश्रित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्थापित हो जाता है कि वेद कालीन चरम मूल्य 'मोक्ष' में सन्निहित था और वैदिक शिक्षा व्यवस्था में मोक्ष दर्शन के माध्यम से यह संदेश देने का प्रयास किया गया है कि मोक्ष यद्यपि व्यक्ति से जुड़ा है परन्तु इसका भी सामाजिक सरोकारों से सम्बन्ध है क्योंकि इसके माध्यम से भौतिक विकारों पर नियंत्रण और सद् तत्त्वों के विकास का प्रयास किया गया है। इसीलिए विकारों से ऊपर उठना अथवा उससे मुक्ति प्राप्त करना मोक्ष की अवस्था है। वेद कालीन इस मोक्ष दर्शन को विभिन्न तरीकों से प्रसरित करने का प्रयास किया गया जिसके मूल में दुष्प्रवृत्तियों का विनाश एवं समाज के नैतिक उत्थान की अभिप्सा थी। मोक्ष को ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों मार्गो से जोड़कर इसके व्यापक शैक्षिक निहितार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिरियन्ना, एम0 पूर्वोद्धृत, पृ0 266

2. अय्यर, पी0एस0एस0, 'इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियल्स', पृ0 153

3. थामसन – 'आउट लाइन्स ऑव जूलॉजी', पृ0 21

4. उद्धृत – जैन, सागरमल, 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', भाग-1, पृ0 405

5. अमरकोष, 1.5

6. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.18 एवं 6.11

6ए. गीता, 6.15

7. तदैव, 2.62त्र 5.24-25

8. तैत्तिरीय उपनिषद्, 1.11, छा0 उप0, 4.6.5

9. गीता, 2.6, 31, 3.35, 18.46 इत्यादि

10. कठो0, 2.1, 2

11. भगवानदास, पूर्वोद्धृत, पृ0 46

12. कौषीतकि उपनिषद्, 3.2

13. गीता, 5.2

14. पाणिनि, 5.4.77

15. निःश्रेयस् शब्द का अर्थ है – जीव का सबसे बड़ा हित – 'निश्चतं श्रेयः निःश्रेयसम्।' द्र0 – त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 373

16. भगवद्गीता, 14.20

17. द्रष्टव्य – बृह0 उप0, 6.4.7, 14, 5.15, 16, 'विद्ययामृतमश्नुते।' छा0 उ0, 2.23.2, कठो0, 6.2.9, श्वे0 उप0, 4.17, 20, 3.1, 10, 13, गीता, 12.13, 14.20

18. श्वे0 उप0, 4.16

19. गीता, 5.28, 7.29, 18.30

20. मैत्री उप0, 6.30

21. द्रष्टव्य – कठो0, 6.8, 'यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति' एवं 141 वृह0 उप0, 4.4.7, श्वे0 उप0, 1.8, 4.16, 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' काणे, पी0 वी0 – 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ0 337

22. त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, पूर्वोद्धृत, पृ0 363.64

23. महा0, 12.270.6

24. एतस्मात् संसारात् आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्षः।

25. 'दुःखेन वियोगोऽपवर्ग', (न्या0 मं0, पृ0 77, जयन्तभट्ट)

26. न्यायभाष्य, 1.1.9

27. 'आवरणमुक्तिर्मुक्तिः'। 'कम्परेटिव स्टडी ऑव वैभाषिक दर्शन' में उद्धृत, सिंह, बी0 एन0।
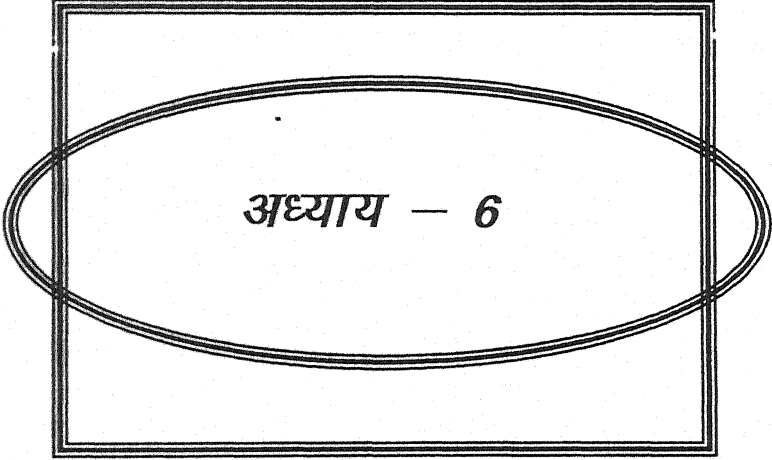
28. 'मोचनं निस्सरणं वामुक्तिः' (सर्वदर्शनसंग्रह)

29. हिरियन्ना, एन.– 'इण्डियन कंसेप्सन ऑफ वैल्यूज', पृ0 249 और आगे। 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन' (स.) डी0 बेरी, 1972, पृ0 278

30. द्रष्टव्य – शुक्ला, बी0 आर0 – 'आस्तिक दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप एवं साधनों का आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन', गोरखपुर (शोध ग्रन्थ, 1978), पृ0 12–13

31. ऋ0, 1.164.30

32. ऋ0, 1.164.20

33. बृह0 उप0, 4.3

34. छा0 उप0, 8, खण्ड 7–1

35. तदैव, 3, खण्ड 17–6

36. मु0 उप0, 2.2.9

37. द्र0 – 'संस्कृति', डॉ0 आदित्यनाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ, 1969, श्यामसुन्दर मार्ग, हिन्दी प्रिण्टिंग प्रेस, 1499, शिवाश्रम, क्वींस रोड, दिल्ली द्वारा मुद्रित, पृ0 12–14

38. बृह0 उप0, 2.3.1, मैत्रायणी उप0 5.3

39. हिरियन्ना, एम0 – 'आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी', पृ0 18, जैन, सागरमल, पूवोद्धृत, भाग–1, पृ0 15

40. 'मरणम् एव अपवर्गः' – अर्थात् मृत्यु ही मोक्ष है।

41. मनु0, 2.94

42. कठो0, 1.2.15

43. मुण्डक उप0, 3.2.9

44. कठ0 उप0, 2.3.14

45. उपाध्याय, बलदेव, 'भारतीय दर्शन', पृ0 209

46. बृह0 उप0, 4.4.22

47. काणे, पी0 बी0, 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पंचम भाग), 1973, पृ0 399

48. विष्णु धर्मसूत्र, 5.9.30

49. वि0 ध0 सू0, 58.6 तथा 58.3

50. आप0 ध0 सू0 2.20.23 – 'एवमुमौ लोकावभिजयति।'

51. आप0 ध0 सू0, 1.22.2 – 'आत्मलाभान्न परं विद्यते।'

52. वसिष्ठ ध0 सू0, 10.20

53. महा0, शा0 पर्व, 279.19

54. महा0, 12.17.15

55. महा0, 12.17.16

56. शिवगीता, मोक्षस्य न हि यासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञानदयं ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ।।

57. गीता, 5.24

58. गीता, 5.28

59. मु0 उप0, 3.2.9

60. महा0, 12.270.6

61. महा0, शा0 प0, 257.5

62. महा0, शा0 प0, 277.5

63. महा0, शा0 प0, 152.20-30

64. द्र0 - काणे, पी0 बी0 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पंचम भाग), पृ0 399

65. छा0 उ0, 2.20.2

66. गीता (शां0 प0), 2.10

67. गीता, 4.40

68. गीता, 4.36

69. तदैव, 4.38

70. तदैव, 4.37

71. छा0 उप0, 7.1.3

72. मुं0 उप0, 3.2.9

73. तु0 - 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन', पृ0 291 और आगे

74. नारदभक्तिसूत्र, पृ0 17 – "कथादिष्विति गर्गः।"

75. तदैव, पृ0 16 – "पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः।"

76. तदैव, पृ0 18 – "आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।"

77. तदैव, पृ0 19

78. कर्मयोग के सम्बन्ध में देखिए – 'सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन', पृ0 289-91 – हिरियन्ना, एम0, पृ0 85

79. गीता, 2.47 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्"

80. तदैव

81. तदैव, 3त्र4, 6, 8

82. योगवासिष्ठ

83. गीता, 4.19, 21

84. तदैव, 3.5-6

85. तदैव, 5.10

86. तदैव, 18.56

'सर्वकर्माण्यापि सदा कुर्वाणो भद्व्यपाश्रयः'

अध्याय – 6

वैदिक शिक्षा का सम्पूर्ण स्वरूप – मूल्य एवं नैतिकता के आवरण में

वैदिक शिक्षा का स्वरूप :

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली का अध्ययन उसके समस्त शैक्षिक विकास के क्रम में अत्यन्त रोचक एवं महत्वपूर्ण है। जैसे ही हम प्राचीन भारतीय शिक्षा की बात करते हैं हमारे समक्ष सर्वप्रथम वैदिक युग का चित्र स्वतः समुपस्थित हो जाता है। क्योंकि भारतवर्ष में प्राचीनतम ज्ञात साहित्य के रूप में वेद हमारे समक्ष आते हैं। यदि हम इतिहास कारों द्वारा निर्धारित इतिहास क्रम को माने तो सैंधव संस्कृति के बाद वैदिक संस्कृति का क्रम आता है। सैंधव संस्कृति एक अति विशिष्ट नगरीय सभ्यता थी परन्तु उस काल का कोई भी साहित्य अद्यतन अनभिज्ञात है। अतएव प्राचीनतम ज्ञात साहित्य के रूप में वेदों को ही हमारे ज्ञान के प्रारम्भिक स्रोत के रूप में ग्रहण किया जाता हैं।

वैदिक साहित्य अत्यन्त विपुल तथा विषद् है। इतस्ततः वैदिक संहिताओं में विकीर्ण तथ्यों को तलाशना और उसके आधार पर तद्युगीन शैक्षिक संरचना का अध्ययन एवं उसमें भी विशेष रूप से मूल्य एवं नैतिक शिक्षा की परिधि में समूल वैदिक शिक्षा का स्वरूप क्या था, इसकी पड़ताल अत्यन्त रोमांचकारी है। वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही थी। जो मूल शैक्षिक उद्देश्य को पूर्ण करती हुई प्रतीत होती है। शिक्षा का सम्बन्ध केवल वैयक्तिक ही नहीं है वरन् उसका सरोकार समाज और राष्ट्र से भी है। इस मन्तव्य को वैदिक ऋषि भली प्रकार समझता था तथा इसे अपने द्वारा विर्मापित शिक्षा संरचना में समावेशित करने का सम्यक् प्रयास करता हुआ भी दिखाई पड़ता है। वैश्विक स्तर

पर ज्ञान और शैक्षिक धारा का जब कहीं अता पता भी नहीं था उस समय तक वैदिक ऋषियों ने केवल इस धारा का उद्गम ही नहीं किया था। वरन् उसमें अवगाहन की प्रक्रिया को भी प्रारम्भ कर दिया था। सम्पूर्ण वैदिक शिक्षा प्रणाली में भारतीयता के तत्व पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। डब्ल्यू. एफ. थामस ने अपनी पुस्तक "द हिस्ट्री एण्ड प्रासपेक्ट्स आफ ब्रिटिश एजूकेशन इन इण्डिया" में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए यह कहा है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पर किसी भी वैदेशिक प्रभाव की पृष्ठभूमि नहीं है। दुनिया में भारत एकमेव ऐसा देश है जहाँ प्राचीनतम समय में ज्ञान और शिक्षा के प्रति इतनी सशक्त और सबल धारा को उद्भूत किया गया है। वैदिक कवियों से लेकर आधुनिक युग के बंगाली दार्शनिक शिक्षकों और विद्वानों का एक निर्विध क्रम रहा है।" यह उद्धरण भारतीय चिंतकों एवं आचार्यो का शिक्षा और ज्ञान के प्रति समर्पण भाव को सन्दर्भित करता है और शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति और समाज निर्माण की भावना को बल प्रदान करता है।

हीगल कहता था कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना धर्म तथा अपनी आत्मा होती है। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए स्वामी विवेकानन्द ने यह स्वीकार किया कि भारत राष्ट्र की भी अपनी आत्मा है और वह आत्मा उसकी आध्यात्मिकता है इसी नाते कहा जाता है कि स्वामी जी ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के भारतीय सिद्धान्त को जन्म दिया। भारत में संस्कृति के सर्वांग धर्म और आध्यात्म के सहचर थे। इसीलिए शिक्षा भी धर्म के आचरण को पोषित करती हुई दिखाई देती है। शिक्षा का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से इतना सघन होने के कारण ही मूल्य और नैतिकता उसका केन्द्रीय विषय बन गयी जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त शैक्षिक गतिविधि धर्म और मूल्य के चतुर्दिक आवृत्ति करती हुई दिखाई देती है।

भारतीय चिन्तन में चरम मूल्य की अवधारणा मोक्ष के रूप में प्रतिष्ठित है और इसी को केन्द्र में रखकर राजनैतिक सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था के सभी सिद्धान्त विकसित किए गये। इसी कारण शैक्षिक सिद्धान्तों के निर्माण के केन्द्र में इस दृष्टिकोण की महती भूमिका दिखायी देती है। शिक्षा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही जीवन को परिपूर्ण बनाने का प्रमुख साधन थी। इस मान्यता के आलोक में ही मूल्य आधारित शैक्षिक ढांचा तथा शैक्षिक सिद्धान्तों का विकास किया गया। प्राथमिक उद्देश्य से लेकर जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की सम्प्राप्ति ज्ञान अथवा शिक्षा से ही सम्भव है – इस मान्यता ने वैदिक शिक्षा को व्यापक आधार प्रदान किया।

शिक्षा के इस विषद प्रसार का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद में अश्वपति केकय के कथन से स्पष्ट हो जाता है जिसमें केकय यह घोषित करते हैं कि मेरे साम्राज्य में कोई भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं है। यह शत–प्रतिशत साक्षरता के सम स्तरीय है। प्राचीन भारत में शिक्षा संस्कारों से सम्बद्ध थी और संस्कार जीवन मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित थे। संस्कार व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्यों का निर्धारण करते थे। चूंकि शिक्षा संस्कार से सम्बद्ध थी और संस्कार व्यक्ति के सामाजिक दायित्व से अतएव शिक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक सरोकारों से स्थापित हुआ जिसके नाते शिक्षा को उसके प्रसरण के लिए व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि प्राप्त हुई।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्राचीन भारतीय शिक्षा को दो वर्गो में वर्गीकृत किया जाता है।

1. ब्राह्मणीय शिक्षा
2. बौद्धकालीन शिक्षा

ब्राहमणीय शिक्षा में पूर्व वैदिक कालीन तथा उत्तर वैदिक कालीन दोनों काल खण्डों को समावेशित किया जाता है।

अ. ब्राहमणीय शिक्षा (वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल) (1500 ई0पू0 – लगभग 500 ई0पू0)

ब. बौद्धकाल (500 ई0पू0 – 1200 इस्वी तक)

वेद कालीन शिक्षा के स्रोत :

ब्राह्मणीय शिक्षा मूल रूप से वेदों पर आधारित है। वेद भारत के प्राचीनतम साहित्यिक ग्रन्थ हैं। वेदों की रचना कब हुई? इस विषय पर विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं हैं, वे मानवेतर शक्ति, 'ईश्वर' द्वारा स्वयं निर्मित हैं। ईश्वर की प्रेरणा से वेदों के विभिन्न मत ऋषियों की अन्तश्चेतना में जाग्रत हुए जिन्हें ऋषियों ने अपने तपोबल से समझा और भाषा प्रदान करके विश्व के समक्ष उनकी अभिव्यक्ति की, क्योंकि इन ऋषियों को ये सभी मंत्र अपनी श्रवण शक्ति के माध्यम से ईश्वर द्वारा प्राप्त हुए थे, इसी कारण इन्हें 'श्रुति' की संज्ञा दी गयी। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद–व्यास ने इन सभी मंत्रों को संकलित किया। अतः भारतीय परम्परा के अनुसार वेद व्यास वेदों के संकलनकर्ता या सम्पादक कहे जा सकते हैं, निर्माता नहीं। यदि इस परम्परा को मान लिया जाये तो वेदों का रचनाकाल निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु आधुनिक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस परम्परा को सत्य नहीं मानते। इनके अनुसार जिन ऋषियों का नाम मंत्रों के साथ उनके द्रष्टा के रूप में आता है वे ही वास्तव में उनके रचयिता हैं।

आधुनिक विद्वानों ने वैदिक साहित्य के रचनाकाल के विषय में अनेक मतों का प्रतिपादन किया है। वैदिक साहित्य किसी एक समय की रचना नहीं वरन् लगभग 1000 वर्षो तक निरन्तर रचा गया। वैदिक साहित्य की रचना की पूर्वतम तिथि भारत में आर्यो के आगमन से सम्बन्धित है। आर्यो के भारत में आगमन के विषय में भी मतान्तर है। वैदिक भाषा की कठिनता, अर्थ गम्भीरता और प्राचीनता के कारण मंत्रों का सही तात्पर्य और अर्थ समझना अत्यधिक कठिन है, अतः इसके आधार पर भी रचनाकाल का निर्धारण सम्भव नहीं है। पुरातत्व सम्बन्धी साधनों के द्वारा भी इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। अतएव इस समस्या का निदान अब तक अन्तिम रूप से नहीं हो सका।

अब तक अनेक मत इस विषय में प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् वेदों की रचना तिथि को कई लाख वर्ष पूर्व बताते हैं, इन विद्वानों में अविनास चन्द्र दास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, अपने मत के समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद में आये भूगर्भ सम्बन्धी मंत्रों को रखा है। बालगंगाधर तिलक और जैकोबी ज्योतिषशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का प्रारम्भ 4500 ई0 पू0 मानने हैं। जबकि मैक्समूलर ऋग्वेद की रचना का काल 1200-1000 ई0 पू0 के बीच मानते हैं तथा दूसरी संहिताओं का रचनाकाल 1000-800 ई0 पू0। अब तक की खोजों के आधार पर प्रो0 विन्टरनिट्ज का मत सबसे अधिक संयत प्रतीत होता है। विन्टरनिट्ज ने आर्यो के भारत में आगमन का समय लगभग 3000-2500 ई0 पू0 माना है, तथा वैदिक साहित्य का प्रारम्भिक काल 2500-2000 ई0 पू0 तक माना है। पश्चिमी एशिया के आधुनिक तुर्की के बोग्रजकुई स्थान पर 1400 ई0 पू0 का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, इस अभिलेख में अनेक वैदिक देवताओं के नाम उल्लिखित हैं जिससे इस बात की पुष्टि हो सकी है कि 1400 ई0 पू0

वैदिक साहित्य की रचना हो चुकी थी तथा विन्टरनिट्ज द्वारा प्रतिपादित मत ही सबसे सही मत है।

वैदिक साहित्य को चार भागों में बांटा जाता है – संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इनके अतिरिक्त वेदांग और सूत्र भी इसी साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। 'संहिता' शब्द का तात्पर्य है संग्रह। संहिताओं में देवताओं की स्तुतियों के मंत्रों का संग्रह किया गया है। संहिताएं चार हैं – ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ऋग्वेद संहिता ही प्राचीनतम है। वैदिककालीन शिक्षा जानने के मुख्य स्रोत ऋग्वेद और अन्य वेद हैं।

1. *ऋग्वेद* – ऋग्वेद हिन्दू संस्कृति का प्राचीनतम आधारभूत ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ में एक विकसित सभ्यता का दर्शन होता है, जिसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल तक भारतीय सभ्यता का पर्याप्त विकास हो चुका था। इसके पूर्व शिक्षा प्रणाली तथा भारतीय संस्कृति का पर्याप्त विकास हो चुका था। ऋग्वेद में शिक्षा का विकसित और सुनियोजित रुप ही प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा का प्रारम्भ भारत में बहुत समय पूर्व हो चुका था। मैक्समूलर ने सत्य ही कहा है कि ''ऋग्वेद भारतीय संस्कृति का प्रभात नहीं, अपितु मध्यान्ह है जहां हम भारतीय सभ्यता को अपनी पूर्ण प्रभुता तक पहुंचा हुआ पाते हैं।''

'ऋक्' अथवा 'ऋचा' शब्द का तात्पर्य है 'स्तु त मंत्र'। ऋग्वेद संहिता में स्तुति मंत्रों का ही संग्रह है। ये स्तुति मंत्र अग्नि, इन्द्र, मरुत्, वरुण आदि देवताओं के प्रति श्रद्धा अर्पित करने के लिए रचे गये हैं। इनकी रचना किसी एक काल की नहीं है बल्कि दीर्घकाल तक होती रही। इसके अन्तर्गत संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित मंत्र भी, जैसे साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक,

सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित मंत्र प्राप्त हैं। इन मंत्रों की रचना समय-समय पर अनेक ऋषियों और अनेक ऋषि नारियों ने की।

ऋग्वेद में दस मण्डल, 1028 सूक्त, 10,580 ऋचाएं हैं। इन दस मण्डलों में से दूसरे मण्डल से लेकर सातवें मण्डल की रचना छः प्रमुख ऋषियों ने की थी। इन मण्डलों का विकास इन्हीं ऋषियों के परिवार के सदस्यों द्वारा परिवर्ती काल में हुआ था। विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद की रचना पंजाब में हुई थी क्योंकि वैदिक काल में सभ्यता का केन्द्र पंजाब था, जहां से आर्य निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ रहे थे। इस समय आर्य अफगानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेश में ही फैले थे। ऋग्वेद की पांच शाखाएं हैं - शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शंखायन और मांड्क्य। इन शाखाओं में से केवल शाकल शाखा ही इस समय प्राप्त है, जिसके द्वारा ऋग्वेद कालीन सभ्यता के तत्व एकत्रित किये जाते हैं।

2. ***सामवेद*** - यह वेद संगीत प्रधान है। इसमें कुल 1549 छन्द हैं। इनमें से केवल 78 मन्त्र उद्गाता पुरोहितों द्वारा रचित मौलिक मन्त्र हैं, अन्यथा शेष सभी ऋग्वेद से ही उद्घृत हैं। सामवेद के सम्पूर्ण मंत्रों को दो भागों में विभाजित किया जाता है। इन्हें अर्चिकाएं कहते हैं। पूर्व आर्चिका और उत्तरार्चिका। पूर्वार्चिका में 6 प्रपाठ्क हैं और दूसरी में 9। प्रथम में 58 ऋक् हैं, दूसरे में 440 मंत्र संकलित हैं। सामवेद की तीन शाखाएं हैं - कौथुमीय, जैमिनीय राणायनीय।

सामवेद के स्वर गेय हैं। ऋग्वेद में से लिए गए मंत्र भी साम के स्वरों के कारण भिन्न हो गये हैं। इसके अन्तर्गत सोमसंस्कार के समय गाये जाने वाले मंत्रों का संग्रह है। इन मंत्रों का गान उद्गाता पुरोहित करते थे। प्रत्येक मंत्र के लिए निश्चित स्वर होते थे। यज्ञ में जिस किसी भी देवता के लिए होम होता था, उस देवता की स्तुति के मंत्र गाये जाते थे और उसका आवाहन किया जाता था।

गेय ऋचाएं ही केवल गाई जाती थीं, इन्हें ही साम कहते थे। सामवेद का उद्देश्य संगीत का ज्ञान कराना है। इसे संगीत का प्राचीनतम ग्रन्थ कहना अत्यधिक सत्य होगा।

3. ***यजुर्वेद*** – यह वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। यज्ञ के समय कर्मकाण्डों के बढ़ जाने के कारण उनके अन्तर्गत क्रियाएं भी बढ़ गयीं और पुरोहित के लिए इन क्रियाओं का अध्ययन आवश्यक हो गया। अतः विशेष प्रकार के पुरोहितों को इस दृष्टिकोण से प्रशिक्षित होना होता था। इन्हें अध्वर्यु पुरोहित कहा जाता था। इनका यज्ञ में महत्वपूर्ण स्थान होता था क्योंकि याज्ञिक क्रिया ये ही करते थे। ये यज्ञ की क्रिया विधि और वास्तविक कार्य प्रणाली के प्रत्येक सूक्ष्म विवरण को जानते थे। इस कार्य में इन्हें विशेष योग्यता प्राप्त होती थी। जिन मंत्रों का उच्चारण इस वर्ग के पुरोहित देवताओं के आहवान के लिए करते थे उन्हें ही यजुर्वेद के अन्तर्गत संग्रहीत किया गया था।

यजुर्वेद के दो भाग – शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की वायसनेयी संहिता में 40 अध्याय हैं। शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र हैं इनमें से कुछ छन्द पद्य शैली में हैं और कुछ गद्य शैली में। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में ब्रह्म विद्या का विशद् उपदेश है। शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखाएं मध्यान्दिन और काराव हैं। कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाएं – तैत्तिरीय, कठक, मैत्रायणी और कपिण्ठल हैं। इसमें अनेक यज्ञों का विधान वर्णित है। भारतीय गद्य का प्रारम्भिक रूप यजुर्वेद में ही मिलता है जो परिवर्ती काल में जाकर और भी विकसित हुआ। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि आर्यो के सामाजिक, धार्मिक जीवन में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। वे अब सिंध की घाटी से कुरुक्षेत्र की ओर पहुंच सके थे।

4. ***अथर्ववेद*** – अथर्ववेद अन्य तीनों वेदों से सर्वथा भिन्न है। प्रारम्भ में रूप की भिन्नता के ही कारण इसे वैदिक साहित्य के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त नहीं थी, किन्तु कुछ समय उपरान्त इसे चौथा वेद स्वीकार लिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अन्तर्गत आर्यो तथा अनार्यो के धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण हो गया था। इसके अतिरिक्त ब्लूमफील्ड का मत है कि अथर्ववेद में प्राचीन आर्य धर्म का वह रूप सम्मिलित था जिसे ऋग्वेद और अन्य दोनों वेदों ने निकृष्ट घोषित कर दिया था। यह धर्म जनसाधारण में प्रचलित लौकिक धर्म था जिसमें अनेक विकृत विचार भी सम्मिलित थे। इसके अन्तर्गत इस प्रकार प्राचीन आर्य धर्म का वह रूप प्राप्त होता है, जिसे ऋग्वेद ने संग्रहीत नहीं किया था। इसकी अनुपस्थिति में यह रूप समाप्त प्राय ही हो जाता।

इसमें 20 काण्ड, 34 प्रपाठक, 111 अनुवादक, 731 सूक्त और 5839 मंत्र हैं। अन्य वेदों में अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से ही लिए गये थे, किन्तु अथर्ववेद में केवल 1200 मंत्र ही ऋग्वेद से लिये गये हैं, शेष मौलिक हैं। अथर्ववेद की दो शाखाएं उपलब्ध हैं – शौनक तथा पैप्पलाद। कुछ विद्वान अथर्ववेद को अन्धविश्वास और जादू टोने का भण्डार मानते हैं। यह भारतीय चिकित्सा शास्त्र सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ है। इसमें अनेक जड़ी–बूटियों का उल्लेख है जिनके द्वारा रोग निवारण सम्भव है। अथर्ववेद में धार्मिक, सामाजिक और नैतिक जीवन से सम्बन्धित सामग्री में अतिरिक्त आयुर्वेद सम्बन्धी बहुत सी सामग्री उपलब्ध हैं। दार्शनिक तत्व चिन्तन, प्राणविद्या, ब्रह्मचर्य, औषधि, वनस्पति विज्ञान, विष और सर्पदंश के प्रभाव को दूर करना, राष्ट्र तथा पृथ्वी सम्बन्धी विचार आदि अथर्ववेद के विषय हैं ज्योतिष विद्या का भी उल्लेख मिलता है। एक भाग में गृहस्थ जीवन के विभिन्न संस्कारों का भी उल्लेख है। कुछ मंत्र कदाचित तंत्र विद्या से सम्बन्धित है। कुछ में विपत्तियों को

टालने के लिए दैवी शक्तियों का आहवान किया गया है। कुछ मंत्रों में भौतिक सम्पन्नता पाने की प्रार्थना की गयी है। इस प्रकार यह वेद प्रमुखतः इहलौकिक और भौतिक ज्ञान से सम्बन्ध रखता है।

ब्राहमण ग्रन्थ :

वैदिक साहित्य में संहिताओं के अतिरिक्त ब्राहमण-ग्रन्थों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ब्राहमण शब्द ब्रह्म से बना है, जिसके अनेक अर्थ है। मन्त्र और यज्ञ के लिए भी ब्रह्म शब्द प्रयुक्त होता है जो ग्रन्थ वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करें, उनके अभिप्राय को स्पष्ट करें और यज्ञों की विधि एवं अनुष्ठान को प्रस्तुत करें, उन्हीं के लिए ब्राहमण संज्ञा प्रयुक्त की गई है। ब्राहमण ग्रन्थों में उस कर्मकाण्ड का विशद रूप से वर्णन है, जिसमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया गया है, और साथ ही उनके विनियोग की विधि का भी वर्णन है।

ऋग्वेद के ब्राह्मण - यह माना जाता है कि वेदों की जितनी शाखाएँ थीं, उतने ही उनके ब्राहमण, आरण्यक और सूत्र ग्रन्थ आदि भी थे। इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या एक सहस्र से भी अधिक या 1,130 होनी चाहिए। पर वर्तमान समय में केवल 8 ब्राहमण ग्रन्थ ही उपलब्ध है। ऋग्वेद के केवल दो ब्राहमण इस समय मिलते है, शाकल शाखा का ऐतरेय ब्राहमण और वाष्कल शाखाका कौषीतकि ब्राहमण, जिसे शांखायन ब्राहमण भी कहा जाता है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण - शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ब्राहमण वर्तमान समय में उपलब्ध है, जिसे शतपथ ब्राहमण कहते है। शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं-

काण्व और माध्यन्दिनीय के साथ इस ब्राहमण का सम्बन्ध है। माध्यन्दिनीय शाखा के शतपथ ब्राहमण में 14 काण्ड है। जो अनेक अध्यायों में विभक्त है।

सामवेद के ब्राह्मण – वर्तमान समय में सामवेद के जो ब्राहमण ग्रन्थ उपलब्ध है, उनमें तीन प्रधान है, ताण्डय या पंचविश ब्राहमण, षड्विंश ब्राहमण और जैमिनीय ब्राहमण। ताण्डय ब्राहमण बहुत विशाल है, इसीलिए उसे महाब्राहमण भी कहते है। 25 अध्यायों में विभक्त होने के कारण वह पंचविंश भी कहलाता है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण – अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राहमण वर्तमान समय में उपलब्ध हुआ है, जिसे गोपथ कहते है। इसमें दो काण्ड है– पूर्व गोपथ और उत्तर गोपथ। पूर्व गोपथ में पांच अध्याय या प्रपाठक है और उत्तरगोपथ के अध्यायों की संख्या छह है।

आरण्यक ग्रन्थः

क्योंकि वैदिक संहिता की प्रत्येक शाखा के अपने अपने पृथक ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद और सूत्र ग्रन्थ होते थे, अतः आरण्यकों की संख्या भी सहस्र से अधिक होनी चाहिए। पर वर्तमान समय में केवल आठ आरण्यक ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, जिन में ऐतरेय आरण्यक शाख्यायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहदारण्यक, जैमिनीयोप – निषदारण्यक और छान्दोग्य आरण्यक प्रधान है।

उपनिषदः

प्राचीन भारतीय आर्यो के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी और वे याज्ञिक विधि विधानों तथा कर्मकाण्ड को बहुत महत्व देते थे। इसीलिए याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन और उनमें वेद मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की थी। पर वैदिक ऋषि आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं

पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है? सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? सृष्टि के मूल तत्व कौन से है? सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है? जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है- इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे गम्भीरता से विचार किया करते थे। वेदों के अनेक सूत्रों में इन्हीं विषयों का निरूपण किया गया है। उपनिषदों में इन्हीं आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं पारलौकिक प्रश्नों का विशद रूप से विवेचन है। जिन चिन्तकों व ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की, वे प्रायः आरण्यक आश्रमों में निवास किया करते थे और सांसारिक समस्याओं से निश्चिन्त होकर गम्भीर चिन्तनों से व्यापृत रहा करते थे। जैसा कि आरण्यक ग्रन्थों का परिचय देते हुए लिखा जा चुका है, अनेक उपनिषदों आरण्यकों का ही अंग है, यद्यपि ऐसे उपनिषदों की भी सत्ता है जिनका सम्बन्ध किसी आरण्यक के साथ नही है।

आरण्यक आश्रमों में निवास करते हुए ऋषियों ने जिन उपनिषदों की रचना की, उनकी संख्या 200 से भी ऊपर है। पर इन सबका महत्व एक समान नहीं है, और न ही सबको प्रमाण रूप से स्वीकार किया जाता है। मुक्ति कोपनिषद के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, जिनमें से 10 का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, 19 का शुक्ल यजुर्वेद से और 12 का कृष्ण यजुर्वेद से 16 का सम्बन्ध सामवेद से और 31 का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ है। पर मुख्य एवं प्रामाणिक उपनिषदें दस मानी जाती है, जिनके नाम निम्नलिखित है- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक। शंकराचार्य ने इन दस उपनिषदों पर ही अपना भाष्य लिखा है। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द ने भी इन्हीं की प्रामाणिकता स्वीकार की है। इनके अतिरिक्त कौषीतकी और श्वेताश्वर उपनिषदों को भी महत्वपूर्ण माना जाता है।

वेदांगः

यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ भेद से विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनों में विविधताएँ भर जाती थीं। इन अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन और गायन में होने वाली विविधताओं में व्यवस्था लाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदांग कहे जाते हैं। ये वेदों के अंग इसलिए माने गये कि इनका संबंध वेदों के उच्चारण, उनके गान तथा अर्थबोध से है।

1. ***शिक्षा*** – यह आजकल का फोनेटिक्स या उच्चारण-शास्त्र था। सामवेद की शिक्षा का नाम नारद शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य शिक्षा। इसी प्रकार, पाणिनीय शिक्षा भी है।

2. ***छन्द*** – छन्द-शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बनाथा। अब इसका एक ही ग्रंथ पिंगल् मिलता है, जिसमें वैदिक और लौकिक, दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

3. ***निरूक्त*** – वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था। निघण्टु नामक एक ग्रन्थ में कठिन वैदिक शब्दों की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि ने (समय ई0 पू0 700) भाष्य बनाया, जो निरूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ने ही, पहले-पहल, यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।

4. ***व्याकरण*** – पाणिनि की अष्टाध्यायी ईसा से 700 वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि से पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भरद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते। पाणिनि से पूर्व के वैदिक व्याकरण को

प्रातिशाख्य कहते थे। शौनक-प्रातिशाख्य और कात्यायन-प्रातिशाख्य अब भी मिलते है।

शिक्षा छन्द, निरुक्त और व्याकरण, असल में, ये भी चार वेदांग है, जिनका सम्बन्ध वेद के भाषा-विषयक विज्ञान से है। किन्तु दो और विद्याओं को मिलाकर वेदांग छह कहते जाते है।

5. ***ज्योतिष*** - यह आर्यो का एकमात्र भौतिक शास्त्र था। जयचंद्रजी का कहना है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

6. ***कल्पसूत्र*** - जिस प्रकार, वेदों के कर्मकाण्ड- पक्ष के नियमन के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्याख्या के लिए कल्पसूत्र बने। कल्पसूत्रों में, व्याजांतर से, आर्यो का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्पसूत्र दो प्रकार के है। एक तो श्रौत सूत्र, जिनमें आर्यो के यज्ञों का वर्णन है तथा जिनसे भारतीय यज्ञ पद्धति का मूल स्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा स्मार्त सूत्र, जिसके दो भेद हैं (1) गृह्य-सूत्र में षोडश संस्कारो का वर्णन है। (2) धर्मसूत्र में राजा तथा प्रजा के धर्म, धार्मिक नियमों और वर्णाश्रम- विधान का वर्णन है।

शिक्षा का अभिज्ञानः

प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा के अभिज्ञान तथा उसकी व्यापक्ता को स्पष्ट करने का अनेक रूपों में प्रयास किया है।

जीवन में शिक्षा की भूमिकाः

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी।

भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। सही बात तो यह है कि शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है, और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है। इसीलिए ज्ञानोद्‌भव का आधार तत्व शास्त्र और विवेक माना गया है। ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करताहै। इस तरह ज्ञान के आलोक से मनुष्य का जीवन आलोकित होता है, क्योंकि किसी भी कार्य को करने वाले दो प्रकार के लोग होते है एक तो वे जो उसको समझ अथवा ज्ञान से करते है, दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते है। किन्तु विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनों एक दूसरे से भिन्न है विद्या और सच्ची लगन के साथ जो व्यक्ति कर्म करता है वही अधिक शक्तिशाली होता है।

ज्ञान की महत्ताः

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि अक्षर को जानने और न जानने वाला, दोनों कर्म करते हैं। किन्तु विद्या और अविद्या, दोनों भिन्न–भिन्न (फल देने वाली) है। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से मुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।[1] अतः ज्ञान से ही उसका जीवन आलोकित होता है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ करता तथा उसे सही करता है तथा शोक और पापरहित होता है। वह इसी से अमरत्व और

गृह ग्रन्थि से मुक्ति प्राप्त करता है। निश्चय ही, ज्ञान के बिना व्यक्ति जीवन और जगत के रहस्यों को जान पाने में असमर्थ होता है। इसलिए यह कहा गया कि विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं[2]। विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही नहीं, ज्ञान से उसे शाश्वत की उपलब्धि भी होती है, अमरत्व और स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है।[3]

शिक्षा से मनुष्य को जीवन संबंधी सिद्धान्तों और आचरणों को समझने में आसानी होती है। उसका शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत और पवित्र होता है। इसीलिए ज्ञान को अप्रतिम माना गया।[4] पूर्व वैदिक युग में भी शिक्षा का बहुत अधिक महत्व था। उस समय तक विद्या अथवा ज्ञान का समुचित महत्व स्थापित हो चुका था। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का ज्ञान अप्रतिम और अनुपम माना जाता था। इसीलिए ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है।[5]

शिक्षा की उपादेयताः

विद्या से मनुष्य अपना जीवन सार्थक करता है। इसके बिना उसका जीवन निरर्थक और सारहीन रहता है। इसके संयोग से बुद्धि प्रखर, बोध क्षमता विकसित और विवेक संपुष्ट होता है यह ऐसे मार्ग का दिग्दर्शन करती है कि मनुष्य पथ भ्रष्ट होने से जाता है तथा सही मार्ग का अनुसरण करके अपना इहलौकिक और पारलौकिक जीवन सुखमय बनाता है। इस प्रकार शिक्षा का आदर्शात्मक विनियोग मनुष्य को क्रियाशील और सन्नद्ध बनाना है, जिससे वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है। आत्मज्ञान के साथ साथ जगत का ज्ञान भी उसके लिए अपेक्षित माना गया। अतएव प्राचीन मनस्वियों द्वारा शैक्षिक अभिज्ञान को रेखांकित करने के लिए यह सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वैदिक काल में शिक्षा

पुस्तकीय शिक्षा का पर्याय नहीं थी वरन उसका आधार व्यक्ति का सर्वांगीण विकास था। वैदिक संहिता का यह उद्धरण कि 'समस्त वैदिक साहित्य का अध्ययन मात्र अक्षर ज्ञान ही है यदि वह व्यक्ति और सामाजिक निर्माण से परे है।' सम्यक शिक्षा व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, अंतस् को प्रकाशित करती है सुसंस्कृत बनाती है, जीविकोपार्जन के द्वारा आत्म निर्भर बनाती है और इस प्रकार एक श्रेष्ठ मनुष्य का निर्माण करती है।

शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्शः

शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध, प्रज्ञा सम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नही होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्म प्रवण, नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्च आदर्शो से संबलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्म निर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण में योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य है। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहता है। अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेघा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[6]

ज्ञान की खोज :

पं0 जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में एक स्थल पर स्पष्ट रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारतीय संस्कृति का उद्देश्य ज्ञान की खोज है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा प्रणाली का भी विकास किया था। भारतीयों के लिए ज्ञान शब्द का कोई सीमित अर्थ नहीं था, शिक्षा के द्वारा वे केवल सांसारिक ज्ञान की ही नहीं अपितु परलोक सम्बन्धी ज्ञान की भी प्राप्ति करने का प्रयत्न करते थे।

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के चार लक्ष्य माने गये हैं जिन्हें पुरुषार्थ की संज्ञा दी जाती है – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चारों में से मोक्ष सबसे अधिक पुनीत एवं महत्वपूर्ण लक्ष्य माना जाता था। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही था। यह अन्तिम लक्ष्य शिक्षा द्वारा ही सम्भव था। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य अत्यधिक व्यापक था। सुभाषित रत्न भण्डार में उसी विद्या को सफल माना गया है जो मुक्ति दे सके, ''सा विद्या या विमुक्तये।'' डा0 राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार 'प्राचीन काल में शिक्षा मोक्ष प्राप्ति या आत्मज्ञान का साधन थी। इस प्रकार शिक्षा जीवन के चरम उद्देश्य प्राप्त करने के लिए माध्यम मानी जाती थी।''[7]

वेदों में भारत की शिक्षा पद्धति के उद्देश्यों का आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार पृथक और स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं है किन्तु विभिन्न उल्लेखों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह स्पष्ट है कि शिक्षा पद्धति के पीछे क्या लक्ष्य और आदर्श थे। इन वैदिक उद्धरणों के आधार पर पी0पी0 काणे (धर्मशास्त्र का इतिहास) तथा अ0स0 अल्टेकर (प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति) ने वैदिक शिक्षा के उद्देश्य तथा आदर्श को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है जिसका स्वरूप निम्नवत है।

मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थानः

मनुष्य के जीवन में धार्मिक वृत्तियों का उदात्त और गरिमामय स्थान है, जिससे मनुष्य का जीवन भक्ति प्रवण और धर्म प्रवण होता है। इस प्रकार की भावना प्राचीन काल से रही है। विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। ब्रह्मचारी द्वारा दैनंदिन क्रिया, संध्योपासन, व्रतों का अनुपालन, धर्म-समन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे है। जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक भावना से और सबल होती है। व्रतों के पालन से संयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भान होता है जो उसके आत्म विश्वास का कारण होता है।[8] आचार्य कुल में रहते हुए अग्नि परिचर्या के नैत्यिक नियम का पालन भी ब्रह्मचारी काधार्मिक व्रत था, और अनुशासन का एक अंग भी।[9]

गुरुकुल अथवा गुरु के सान्निध्य में रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। अगर उसे किसी बात की शंका होती थी तो गुरु उसका निवारण करता था। तैत्तिरीय उपनिषद में ऐसे पृच्छा करने वाले ब्रह्मचारी के लिए कहा गया है, यदि तुम्हें कभी अपने कर्तव्य अथवा सदाचार के विषय में सन्देह उपस्थित हो तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्तव्य परायण, कोमल स्वभाव के धर्मात्मा ब्राह्मण विद्वान हों उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार में तुम्हें ऊपर बतये गए गुणों से युक्त ब्राह्मण विद्वानों के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए।[10]

सामान्यतः विद्यार्थी के लिए सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से सभी धर्मो का क्षय हो जाता है।[11] शिक्षार्थी के विभिन्न नियम धर्म मूलक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते थे। इन्ही नियमों के आधार पर विद्यार्थी लौकिक और पारलौकिक जीवन को समझ पाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम होता था। वह आध्यात्मिक जगत के विषय में जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्विक जीवन को और तपःशील करता था। अतः मनुष्य के जीवन में तप, दान, अर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य वचन अनिवार्य माने गए,[12] क्योंकि धर्म मूलक प्रवृत्तियाँ इन्हीं तत्वों से प्रेरित होती थी। तथा व्यक्ति इनपर आचरण करता था।

छान्दोग्य उपनिषद में धर्म के तीन स्कन्ध अथवा आधार स्तम्भ बताए गए है। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है। तप अर्थात कष्ट सहिष्णुता ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल (गुरूकुल) में रहते हुए अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। इनका अनुगमन करने वाले सभी लोग पुण्यलोक को प्राप्त होते है।[13] वैदिक शिक्षा में धार्मिक तत्वों की प्रधानता ही उसका विशिष्ट मूल्य था।

मनुष्य के चरित्र अथवा आचरण का उत्थानः

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।[14] वस्तुतः सच्चरित्रता व्यक्ति का भूषण मानी गयी थी। आचरण सम्पन्न और

चरित्रवान व्यक्ति अभिनन्दनीय था तथा आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मो से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से ही संचालित होते थे। शिक्षा अवधि में ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था।[15] शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता था तथा सद्सत का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तदनुकूल संघटित करने का अवसर मिलता था, इसलिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का यह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल में शिक्षार्थी विभिन्न नियमों और निर्देशों का पालन सुगमता पूर्वक कर सकता था। व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रम्ह (ज्ञान) को धारण करता था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे।[16] समिघा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोगों को समुन्नत करता था।[17] ब्रम्हचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा

राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप में शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था।[18]

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थानः

आत्म विश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता है। प्राचीन काल में यह माना गया कि शिक्षार्थी में आत्म विश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण था अपने कर्मो और उत्तरदायित्वों को आत्म विश्वास पर ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसीलिए ब्रह्मचारी में यह आत्म विश्वास जागृत कराया जाता था। कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाइयों में भी स्थिर मति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरू के सान्निध्य में रहकर विभन्न नियमों का पालन करता और अपने अद्‌भुत साहस को परिचय देता था। भविष्य के संकटमय जीवन को अपने अनुकूल बनाने में उसका आत्म विश्वास ही उसका एक मात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था उसी समय उसका आत्म विश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दया दृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेघा और शक्ति में वृद्धि करे[19] जिससे अग्नि शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओं में प्रसारित हो। अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें वह भावना दृढ़ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।[20]

ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्म संयम का अभिप्राय आत्म नियंत्रण से था। अपने कर्तव्यों का पालन करने की दृष्टि से इंद्रियों

और मन की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों को नियंत्रित और व्यवस्थित रखना आत्म संयम था। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। गीता में कहा गया है कि संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथा योग्य आहर विहार करने वाला, कर्मो में यथायोग्यरत रहने वाला तथा यथायोग्य सोने वाला और जागने वाला होता है।[21] इस तरह व्रती, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्म संयम का महत्वपूर्ण आधार था।

सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादनः

शिक्षित होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक निष्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्यान्य जिज्ञासु विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ़ रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करता था। विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के उपदेश में उसके लिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था, सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे लेने पर सन्तति उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म सेन हटना। लाभ कार्य में प्रमाद न करना। महान बनने के सुअवसर से न चूकना। पठन पाठन के कर्तव्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (कार्य और श्राद्ध आदि) से प्रमाद न करना। माता को देवी समझना। पिता को देवता समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोष रहित कार्यो को करना।[22] इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व थे, जिन्हें वह शिक्षा प्राप्ति के बाद सोत्साह मनोनिवेश पूर्वक निष्पन्न करता था।

सभी वर्णो और जातियों के अपने पृथक पृथक कर्म थे, जिनको सम्पादित करना उनका परम धर्म था। सबके अपने व्यवसाय और पेशे थे, जिनके अनुसार वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक दायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाता था। कार्य विभाजन के अनुसार सभी वर्णो और जातियों के भिन्न-भिन्न कर्म थे, जिनका पालन करना सभी लोगों का अपना कर्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे, जिन्हें वे मनोविनेश पूर्वक सम्पादित करते थे, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने आपत्ति काल में अपने वर्णगत कर्म का त्याग करके दूसरे वर्णो के कर्म अपना लिए - क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के कर्म अपनाये और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के और शूद्रों ने वैश्यों के। वर्णो के आपद्धर्म तो इस बात के ज्वलन्त प्रमाण है जब व्यक्ति दूसरे के कर्म को अपना कर अपना और अपने परिवार का पोषण करता था। ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाण भी अनेक है, जिनका यथा स्थान उल्लेख किया गया है। पेशेवर जातियों ने श्रेणी के माध्यम से अपने कार्य पूरे किये थे। वंशानुगत पेशे का प्रचलन और कार्य क्षमता का निष्पादन सामाजिक उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत आए, जिन्हें कालान्तर में सफलतापूर्वक पूरा किया गया।

सांस्कृतिक जीवन का उत्थानः

शिक्षा और विद्या के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएँ जीवन्त हो उठती है। अतः अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था।

वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों की शिक्षा और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कण्ठस्थ करना और उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य था, साथ ही आर्य संस्कृति का यह प्रधान उद्देश्य भी। वेद वेदांगों को कण्ठस्थ रखना और उन्हें सर्वदा स्मरण रखना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था।

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई।[23] प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक् रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य था। तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि ब्रह्मचर्य द्वारा व्यक्ति ऋषि–ऋण अथवा संस्कृति के प्रति अपने कर्तव्य से मुक्त होता है, जिस प्रकार यज्ञ द्वारा देव ऋण से तथा सन्तान (प्रजनन) द्वारा पितृ ऋण से। देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण ये तीन ऋण थे, जिनसे मनुष्य को मुक्त होना अवश्यम्भावी था। देव ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। ऋषि ऋण से छुटकारा ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन करने से मिलता था। पितृ ऋण सन्तान उत्पन्न करने और समुचित शिक्षा प्रदान करने से उतरताथा। अतः सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में परम्पराओं को प्रचारित करने वाले नए साहित्य, पुराणों का निर्माण हुआ, जिसमें अतीत के जीवन के प्रति आकर्षण था।

वेद कालीन शैक्षिक व्यवस्था एवं प्रबन्धन :

पूर्व वैदिक काल अथवा ऋग्वैदिक काल में शिक्षा की किसी औपचारिक संगठन की जानकारी नहीं प्राप्त होती है। व्यवस्थित तथा सुसंगठित शैक्षिक संस्थाओं के रूप में शिक्षा का विकास सम्भवतः अभी नहीं हुआ था। यह काल खण्ड जन शिक्षा व्यवस्था से दूर वैयक्तिक शिक्षा के व्यवस्था के रूप में सांसे ले

रहा था। जन शिक्षण संस्थाओं का विकास नहीं हुआ था। गुरू/ब्राह्मण गृह ही शिक्षा के केन्द्र बने थे। जहां पर शिक्षार्थियों की संख्या अत्यल्प हुआ करती थी। अलग-अलग वेद तथा उसकी शाखाओं के ज्ञाताओं ने इस आद्य ऐतिहासिक काल में अपनी भिन्न-भिन्न शैक्षिक संस्थाओं का विकास कर लिया था जिन्हें 'चारण' के नाम से जाना जाता था। किन्तु चारण नाम से प्रचलित शैक्षिक संस्थायें बहुत विकसित तथा व्यवस्थित नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे उत्तर वैदिक काल तक पहुंचते-2 इन संस्थाओं का औपचारिक विकास प्रारम्भ हो गया। एक सुनिश्चित शैक्षिक व्यवस्था जो सामूहिक शिक्षा के समीप पहुंच रही थी विकसित होनी प्रारम्भ हो गयी थी सम्पूर्ण शैक्षिक ढ़ाचे का ताना-बाना तैयार हो गया था जो बौद्ध काल तक पहुंचते-2 विश्वविद्यालयों के रूप परिवर्तित हो गया। विश्वविद्यालय जो आज भी उच्च शिक्षा के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र हैं इनका प्रारम्भिक ढाँचा और स्वरूप प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में उपलब्ध था।

शिक्षा का प्रारम्भ :

विद्यारम्भ संस्कार के उपरान्त बालक की आरम्भिक शिक्षा का केन्द्र उसका परिवार था। पांच वर्ष की अवस्था में शिक्षा क्षेत्र में प्रथम प्रवेश हेतु उसे संस्कारित किया जाता था। जिसके अन्तर्गत बालक को सामान्य पाठ, सामान्य लेखन तथा सामान्य गणना का ज्ञान कराया जाता था। उच्च शिक्षा हेतु उपनयन संस्कार सम्पादित किए जाते थे तत्पश्चात गुरुकुल में अंतःवासी के रूप में वह उच्च शिक्षा ग्रहण करता था। विद्यारम्भ संस्कार चौल संस्कार के बाद किया जाता था। चौल कर्म में शिक्षा का रखा जाना वंशगत वैदिक ऋषियों से घनिष्ठता स्थापन का परिचायक था। **"यथर्षिशिखां विदधनंत"** (आ० गृ० सू० 16.6) शुभ मुहूर्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओम' और 'स्वस्तिक' के साथ वर्णमाला लिखकर

अक्षरारम्भ कराया जाता था। मारकण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए अपरार्क और स्मृति चन्द्रिका ने लिखा है कि सन्तान की विद्यारम्भ की आयु 5 वर्ष थी।

उपनयन संस्कार :

उपनयन का अभिप्राय स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन से है। उपनयन संस्कार सम्पन्न विद्यार्थी को वैदिक शिक्षा व्यवस्था में ब्रह्मचारी कहा जाता था। उपनयन के लिए परवर्ती काल में यज्ञोंपवीत शब्द का भी प्रयोग हुआ। उपनयन संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से है। इस संस्कार के सम्पन्न होने के उपरान्त बालक का दूसरा जन्म होता था जिसके कारण उसे द्विज कहा गया है। पी0 एन0 एच0 प्रभु ने हिन्दू सिविलाइजेशन नामक अपने ग्रन्थ में यह मत व्यक्त किया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के बालक जिस धार्मिक क्रिया अथवा क्षेत्र में प्रवेश करते थे उसे उपनयन संस्कार कहा जाता है। इस संस्कार के द्वारा ही भौतिक शरीर के स्थान पर बालक आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करता था। इस संस्कार के अनन्तर अनियमित तथा अनुत्तरदायी जीवन समाप्त हो जाता था तथा नियमित एवं अनुशासित जीवन प्रारम्भ हो जाता था शैक्षणिक और संस्कार की दृष्टि से इसकी अति महत्ता थी। इस संस्कार के माध्यम से बालक गुरू, वेद, यम नियम और देवता के सन्निकट पहुंचता था ताकि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। उपनयन संस्कार के बाद ही व्यक्ति समाज का वैधानिक सदस्य बनता था और वर्ण धर्म के अनुपालन में उसकी भूमिका सुनिश्चित होती थी। गौतम धर्म सूत्र में ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवे वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में उपवीत संस्कार कराने का विधान बताया गया है। इसी व्यवस्था का अनुमोदन मनु भी करते हैं। यज्ञोपवीत के उपरान्त बालक जो जनेऊ धारण करता था उसक तीन धर्मो (सत्व, रज् और तम त्रिगुण के प्रतीक तथा त्रिऋण (ऋषि, देव

और पितृ) का भी स्मरण दिलाते थे। इस श्रेष्ठ मूल्याधारित संस्कार के माध्यम से भी बालक को उसके कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व की शिक्षा दी जाती थी।

यज्ञोपवीत के अन्तर्गत होने वाले समस्त धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन के उपरान्त बालक को सूर्य का दर्शन कराया जाता था और हस्त ग्रहण के द्वारा आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को अपना शिष्य घोषित किए जाने के पश्चात् आचार्य शिष्य को सावित्री मंत्र के साथ उपदेश देता था। सावित्री मंत्र बृद्धि और ज्ञान के समुत्कर्ष का प्रमुख प्रेरक तत्व था।

प्रवेश विधि – उपनयन संस्कार के बाद बालक को गुरू के पास ले जाया जाता था। गुरू उस बालक से पूछता था 'तुम जिसके ब्रह्मचारी हो'? बालक 'आपका' कह कर अपने को गुरू को समर्पित कर देता था। आचार्य तब उसे शुद्ध करता था कि तुम इन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के शिष्य हो, क्योंकि ये वैदिक काल के शक्तिशाली देवता थे। इसके पश्चात आचार्य दाहिने हाथ से शिष्य को पकड़ता था और बतलाता था कि वह ऐसा सावित्री के आदेश से कर रहा है। वह फिर शिष्य के हृदय को स्पर्श करता था और प्रार्थना करता था कि उसके तथा शिष्य के बीच स्थायी रूप से सौहार्द्रता की भावना रहे। इसके बाद शिष्य को वैदिक अध्ययन में गायत्री मंत्र के पाठ के द्वारा प्रवेश कराया जाता था। गायत्री मंत्र सीखने के उपरान्त विद्यार्थी को एक दण्ड प्रदान किया जाता था, जो कि ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले यात्री का प्रतीक था। दण्ड को ग्रहण कर वह प्रार्थना करता था कि वह ज्ञान प्राप्ति के कठिन मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने गन्तव्य स्थान तक पहुंच सके। प्रत्येक दण्डधारी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सजग प्रहरी के समान वेदों की मर्यादा की रक्षा करेगा। दण्ड विद्यार्थियो को आत्म निर्भर तथा आत्म

विश्वासी बनाता था। यह गुरूओं के पशुओं को नियंत्रित करने में सहायता करता था।

गुरूकुल शिक्षा प्रणाली – प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली की सर्वोपरि विशेषता गुरूकुल प्रणाली है। आठ या नौ वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा गृह में प्राप्त कर लेता था। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वह 'गुरूकुल' मे प्रवेश लेता था। उपनयन से लेकर समावर्तन संस्कार तक उसे गुरूकुल में रहना पड़ता था। 'उपनयन' संस्कार के पश्चात ही कोई विद्यार्थी गुरूकुल अथवा गुरूगृह में प्रवेश ले सकता था। जब वह गुरूकुल में अपने गुरू के संरक्षण में रहना शुरू कर देता था, तब उसे 'अन्तेवासिन' या 'गुरूवासी' कहा जाता था। गुरूकुल में प्रत्येक विद्यार्थी को सादा तथा शुद्ध जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनको संस्कार की समस्त आकर्षक वस्तुओं से दूर रहकर कठोर जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। गुरूकुल में प्रायः दो प्रकार के विद्यार्थी रहा करते थे। समावर्तन के बाद वापस लौटने वाले विद्यार्थी **'उपकुर्वाण'** तथा आजन्म गुरू के आश्रम में रहने वाला विद्यार्थी नैष्ठिक कहा जाता था।

वैदिक शिक्षा व्यवस्था में गुरू :

वस्तुतः ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य ज्ञान के प्रतीक थे। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति और समाज को शिक्षित ही नहीं करता था बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान में पारंगत भी करता था। वह अज्ञान के तिमिर से छात्र को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था। वस्तुतः ज्ञानरूपी दीपक आवृत्त रहताहै। गुरू दीपक के उस आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणें विकीर्ण कर देता है।[24] निश्चय ही गुरू अपनी शिक्षा से शिष्य के अंतस् में उद्दीप्त दीपक को अनावृत करके ज्ञान की किरणें फैलाता है। यह उसका अद्वितीय योग होता है। इसलिए प्राचीन काल से गुरू की

अपार महिमा थी। समाज में उसकी स्थिति सर्वोच्च थी। वह आदर का ही पात्र नहीं बल्कि पूज्य भी था। उसमें अग्नि और इन्द्र की तेजस्विता और वीरता थी। वह देवता के सदृश था और पुरूप्रिय (लोकप्रिय) था। इसीलिए उसके लिए कहा गया था कि आचार्य देवता है। यह सही बात है कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थो में ज्ञान की प्राप्ति होती थी।[25] आचार्य के व्यक्तित्व और उसके ज्ञान से ही आचार्य कुल का मान था। इसलिए आचार्य का परम विद्वान और 'धियावसु' होना अपेक्षित था। अध्यापन के कारण वह स्तुत्य था। प्रायः वह अपने चिरसंचित ज्ञान और विद्या से अपने उत्तराधिकारी पुत्रको अवगत करा देता था, जो उसके न रहने पर समाज में उसकी ज्ञान गरिमा की परम्परा को बनाए रखता था। इस प्रकार आचार की प्रतिष्ठा शनैः शनैः बढ़ती गई, वह माता पिता के समकक्ष माना गया। बाद में आकर समाज में उसका स्थान पिता से भी बढकर हो गया, यद्यपि अथर्ववेद में उसके लिए यह विवृत है कि वह उपनयन संस्कार के समय शिष्यको गर्भ में धारण करता था और तीन रात तक अपने उदर में उसे धारण करके उसका पोषण करता था तथा चौथे दिन उसको जन्म प्रदान करता था।[26] अतः यह साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि आचार्य की गरिमा माँ से कम नहीं थी। आचार्य की सार्थकता थी ज्ञान प्रदान करना। यह कार्य वह उसी प्रकार करता था जिस प्रकार बिना अपेक्षा किये सूर्य प्रकाश प्रदान करता है और सरिता जल प्रदान करती है।

आचार्य :

आचार्य इसलिए कहा जाता था कि वह अपने शिक्ष्यों को आचारया चरित्र्य की भी शिक्षा प्रदान करता था।[27] मनु के अनुसार जो ब्राह्मण विद्वान शिष्य का

यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञ विद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेद शाखा पढ़ाता था, वह आचार्य था।[28]

उपाध्यायः

मनु ने गुरूओं की कई श्रेणियाँ बतलाई है। उसके अनुसार जो ब्राह्मण वेद के एक देश (मंत्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और छन्द शास्त्र), जो जीविका के लिए पढ़ाता था, वह उपाध्याय कहा जाता था।[29]

प्रवक्ताः

प्रोक्त (शाखा ग्रंथ, ब्राह्मण और श्रौत सूत्र का विद्वान) साहित्य की शिक्षा देने वाला प्रवक्ता कहा जाता था। वह आख्याता भी कहा जाता था।

अध्यापकः

वैज्ञानिक और लौकिक साहित्य का ज्ञान प्रदान करने वाला अध्यापक के नाम से विख्यात था।

श्रोत्रियः

वह अध्यापक था जो वेद की शाखाओं को कंठस्थ करके छात्रों को दीक्षा देता था।

गुरूः

जो गृहस्थ विद्वान शिक्षा प्रदान करता था, वह गुरू की श्रेणी में आता था। पिता भी गुरू की श्रेणी में गृहीत किया जाता था। मनु का कथन है कि जो

शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारों को करता था और अन्नादि के द्वारा अपने परिवार का संबर्द्धन करता था, वह ब्रह्मण गुरू कहा जाता था।[30]

ऋत्विक्:

जो ब्रह्मण वृत होकर (वरण–संकल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्नि को उत्पन्न करने का कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) और अग्निष्टोम आदि का यज्ञ करता था वह ऋत्विक् था।

चरक:

प्राचीन काल में ऐसे भी अध्यापक थे जिनका जीवन भ्रमण और यायावर का था। वे घूम घूमकर अपने शिष्यों का स्वयं चुनाव करते थे तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार स्थान स्थान पर विचरण करने वाले ऐसे अध्यापक चरक कहे जाते थे।[31]

शिक्षा के अधिकारी:

वैदिक युग से ही रूचि के अनुसार छात्रों को शिक्षा प्रदान की जाती थी और उनके व्यवसाय को निर्धारण किया जाता था। आचार्य उसके अध्ययन की अभिरूचि और उसकी वृत्ति का निरीक्षण करता था और संतुष्ट होने के पश्चात उसे शिष्य परम्परा में गृहीत करता था।[32] ऐसे शिष्यों को अपने गुरूकुल में स्थान देने के पहले सर्वप्रथम आचार्य उसके आचरण और शील के विषय में आश्वस्त होता था। तत्पश्चात उसे उपनयन विधि के अनुसार ब्रम्हचारी बनाया जाता था। कभी कभी अधिक आयु के लोग भी शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त आते थे जिनका उपनयन नहीं किया जाता था।

शिष्य की योग्यताः

शिष्य का ज्ञान प्राप्ति के निमित्त निष्ठावान होना अत्यन्त आवश्यक था। उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति और कर्तव्य बुद्धि की जानकारी गुरू रखता था। एक ही गुरू के सान्निध्य में रहकर जो छात्र शिक्षा ग्रहण करता था, वह सतीर्थ्य कहा जाता था।[33] ऐसे एकनिष्ठ छात्र की योगयता गुरू जान लेता था, क्योंकि वह योग्यता के आधार पर शिष्य का चुनाव करता था। निरूक्त में उल्लिखित है कि जो नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता था जो अपने विशिष्ट विषय के महत्व को नहीं समझता था ऐसे शिष्य को स्वीकार नही किया जाता था।[34]

नचिकेता की यथोचित परीक्षा लेने के बाद ही यमाचार्य ने उससे कहा, ‘‘हे ब्रह्मन्, तुम्हें नमस्कार। मेरा कल्याण हो। तुम नमस्कार योग्य अतिथि होकर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन किए रहे। अतः एक-एक रात्रि के लिए एक-एक करके मुझसे तीन वर मांग लो।’’ इसके बाद ही यम ने उसे उपदेश दिया था।[35]

आचार्यत्व का आधारः मात्र विद्वता, जाति नहीं:

उपनिषद काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी, न कि वर्ण अथवा जाति। उत्तरवैदिक युग के उपनिषद्काल के ऐसे अनेक उदाहरण है जब क्षत्रिय विद्वानों ने अन्य लोगों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भी शिक्षा प्रदान की थी। आचार्य ब्रह्मण ही हों, उस युग में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उस युग के अनेक क्षत्रिय शासको ने विद्वान ब्रह्मणों को अपना अन्तेवासी स्वीकार किया था तथा उनकी जिज्ञासा का समाधान किया था। विदेह का शासक जनक, काशी का शासक अजातशत्रु केकय नरेश अश्वपति, पंचाल नृपति प्रवाहण जैबलि आदि ऐसे क्षत्रिय

राजा थे जो ज्ञान और दर्शन के अप्रतिम विद्वान थे और जिन्होंने अनेक ब्राह्मण आचार्यो को अध्यात्मक ज्ञान कराया था।[36]

शिष्य के कर्तव्य और आचारः

शिष्य अपने आचार्य अथवा गुरू का सर्वदा सम्मान और आदर करता था। इसके साथ साथ वह अनेक नियमों और आचारों का पालन करता था। ब्रह्मचर्य का पालन करना उसका परम कर्तव्य था। इसका पालन करने वाले में ही तेजोमय ब्रह्म और देवता अधिवास करते थे।[37] समिधा, मेखला, मृगचर्म (कार्ष्णवसानः), आदि धारण करते हुए ब्रह्मचारी अपने व्रतों का पालन करता था। वह लम्बे बाल रखता था तथा श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।[38] वस्तुतः ब्रम्हा वेत्ता को ही ब्रह्मसत्य, ज्ञान और अनन्त रूप में ज्ञेय था। उसके लिए यह कहा गया था, जो पुरूष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म रूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। आत्मा से ही आकाश उद्‌भूत। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरूष उत्पन्न हुआ।[39]

आचार्य कुल में रहते हुए वह अपने आचार्य के लिए भिक्षाटन करता था। अग्नि की परिचर्या करता था। आचार्य गृह का कार्य करता था। आचार्य के लिए गोसेवा करता था।[40] गुरू की त्रुटियों को शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक एकान्त में उसे बताता था।[41] वैसे, शिष्य के लिए यह स्वतन्त्रता थी कि वह धर्मच्युत गुरू की आज्ञा न माने।[42] इसके विपरीत अगर शिष्य कोई पाप करता था तो उसके लिए आचार्य ही उत्तरदायी होता था।[43]

विद्यार्थी जीवन में अनेक ऐसे नियमों का व्यवहार था जिससे शरीर और आचरण की शुद्धता होती थी। असत्य भाषण, वाद विवाद आदि पर प्रतिबन्ध था। नैतिक नियम और शुद्ध आचरण की अपेक्षा की गई थी, क्योंकि दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य को वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्याएँ कभी सिद्ध नही होतीं। इन्द्रिय निग्रह छात्र के लिए अनिवार्य था, क्योंकि इन्द्रियों में एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार चमड़े के बर्तन के एक ही छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है।[44] ब्रह्मचारी काल में वह किसी स्त्री से सम्भाषण नही करता था वह अधिक हँसता नहीं था, सूर्योदय के पूर्व स्नान करता था, गुरू के कार्यो में सहायता प्रदान करता था तथा गुरू का नाम लेता था। उन्हें सदा भगवन श्री या आचार्य कहकर सम्बोधित करता था।

शिक्षा सत्रः

शिक्षा सत्र उपक्रम नामक संस्कार से श्रावण की पूर्णिमा को प्रारम्भ होता था और उत्सर्जन नामक संस्कार से पौष (फरवरी) की पूर्णिमा को समाप्त हो जाता था। इस प्रकार शिक्षा सत्र 5 अथवा 6 माह से अधिक नहीं चलता था। इस प्रकार के नियम का परिपालन केवल आद्यैतिहासिक काल में ही था किन्तु जैसे-जेसे नए-नए विषयों, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन तथा धर्मशास्त्र आदि का विकास हुआ, वैसे ही यह 5 अथवा 6 माह का शैक्षिक सत्र अल्प समझा जाने लगा और विद्याभ्यास का कार्य सम्पूर्ण वर्ष तक होने लगा।

अवकाश :

आधुनिक समय की भांति वैदिक शिक्षा में भी अवकाश की व्यवस्था थी। प्रत्येक माह में चार अवकाश होता था (1) संक्रांति (2) पूर्णमासी (3, 4) प्रत्येक पखवारे की अष्टमी। इनके अलावा निम्नलिखित स्थितियों में भी अवकाश दिया जाता था। (1) बाहरी आक्रमण के कारण (2) डाकुओं का उपद्रव (3) मौसम की खराबी (4) राजा की मृत्यु अथवा किसी सम्भ्रान्त ब्राह्मण का निधत्र द्र25) राजा अथवा किसी सम्मानित अतिथि का आगमन।

शुल्क संरचना:

इस समय शिक्षा निःशुल्क थी। शिक्षा दान धार्मिक कर्तव्य था। जिसके द्वारा गुरू ऋषि ऋण से मुक्ति पाता था। शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन नहीं था वरन् ज्ञान का प्रसारण था। प्रत्येक गुरू अपने ज्ञान का हस्तान्तरण अपने शिष्य को करता था और इस प्रकार वह वेद ज्ञान को अक्षुण्ण बनाये रखना अपना परम धर्म समझता था। अतः इसका ध्येय ज्ञान की अक्षयनिधि को इसी प्रकार बनाये रखन्. था। गुरूकुलों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज करता था। शिष्य शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरू दक्षिणा देते थे, कभी-कभी समाज के धनी और दानी व्यक्ति गुरूकुलों की आर्थिक आवश्यकताएं पूरी करते थे, कभी-कभी राज्य द्वारा भी गुरूकुलों को सहायता प्राप्त होती थी। इस प्रकार आर्थिक आवश्यकता पूर्ति के तीन साधन थे - 1. गुरू दक्षिणा के रूप में प्राप्त धन, 2. समाज के धनिक वर्ग से प्राप्त धन तथा 3. राज्य कोष से प्राप्त धन। गुरूकुल अपनी नीति निर्धारण में पूर्णरूपेण स्वतंत्र थे। राज्य की ओर से उनके ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था, राज्य गुरूकुल की किसी नीति में हस्तक्षेप नहीं करता था।

पाठ्यक्रम में वेद की शिक्षा का स्थानः

पाठ्यक्रम के अनुसार ब्रह्मचारी को सबसे पहले वेद का अध्ययन कराया जाता था, तत्पश्चात अन्य विषय पढ़ाये जाते थे। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में ऋक् पारायण के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये है– प्रतृण्ण, निर्भुज और उभयमन्तरेण। इनका सम्बन्ध क्रमशः पदपाठ, क्रमपाठ और संहिता पाठ से था। इनका अध्ययन एक एक करके या दो एक साथ अथवा लगातार पढ़ते हुए किया जाता था। इसके साथ ही स्वर से संबंधित शास्त्र का विकास हुआ। इसीलिए स्वर शास्त्र का वर्णन ऐतरेय और शतपथ के आरण्यकों में किया गया जिसमें घोष, ऊष्म, व्यंजन, दन्त्य, दन्त्य नकार और मूर्धन्य णकार एवम् श, ष, स और संघि के नियम संग्रहीत किये गए। स्वर से संबंधित शास्त्र का और आगे विकास हुआ तथा उपनिषदों में इसके शिक्षा और गान पक्ष पर बल दिया गया। उनमें स्वरों की मात्रा, बल (स्वर), साम और सन्तान का भी उल्लेख हुआ।

अन्य विषयों का अध्ययनः

प्राचीन काल में अनेकानेक विषयों की शिक्षा छात्रों को दी जाती थी। द्विजों के लिए वेद का अध्ययन तो आवश्यक था ही,साथ ही वैदिक संहिताओं और वेदांगों का अध्ययन भी अपेक्षित था। ब्राहमण काल में यज्ञ विद्या का अध्ययन अध्यापन अधिक होता था। इसमें ज्ञान विज्ञान की सहायता ली जाती थी। उपनिषद युग में वैदिक संहिताओं, वेदांगों, याज्ञिक विद्याओं आदि के अतिरिक्त परा विद्या और ब्रह्म विद्या का भी अध्ययन किया जाता था। वेद (चार), इतिहास पुराण, व्याकरण, भूत विद्या, वाकोवाक्यम्, तर्कशास्त्र, शिक्षा, निरुक्त, छन्द नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, राशि, एकायन, आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।[45]

उपनिषदों में माया, कर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति और आत्मा संबंधी अनेक विचार किये गये है। सत्य ज्ञान का अन्वेषण तथा उसका अनुपालन उपनिषद युग में किया जाता था।[46] छान्दोग्य उपनिषद में विवृत है कि सनत्कुमार को अनेक विद्याओं का ज्ञान था। नारद ने सनत्कुमार से कहा था, मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है इतिहास पुराण रूप पांचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देव विद्या, भूत विद्या क्षत्र विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या और देवजन विद्या (नृत्य संगीत) आदि मैं जानता हूँ।[47] आत्मा से संबंधित विद्या आत्म विद्या कही जाती थी जो उपनिषद काल के छात्रों का प्रधान विषय होती थी।[48] परा विद्या शब्द सर्वोच्च ज्ञान के लिए था।

शिक्षा प्रणालीः

वेदकालीन शिक्षा पद्धति मौखिक विधि पर आधारित थी, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस विधि से दी गयी शिक्षा हजारों वर्षो तक सुरक्षित रह सकी।

इस समय वेद मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। उच्चारण करवाने के पश्चात गुरू इन मंत्रों की व्याख्या भी करता था। मंत्र गान विशेष प्रकार से होता था। सामूहिक रूप से मंत्रों का उच्चारण विद्यार्थी प्रातःकाल से ही करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि कदाचित् लेखन कला का ऋग्वेद के समय तक विकास नहीं हो सका था, इसी कारण यह पद्धति अपनाई गयी। किन्तु यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि वेदकाल में लेखन कला की उपस्थिति के अनेक निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। वेदों में ब्रहमीवाकों विभर्णिच का सन्दर्भ लेखन कला का स्पष्ट प्रमाण है।

गुरू प्रत्येक शिष्य को व्यक्तिगत रूप से पढ़ाता था। शिक्षा की प्रक्रिया में गुरू तथा शिष्य दोनों ही सक्रिय रहते थे, शिष्य गुरू से अपनी शंका का समाधान करते थे। गुरू भी शिष्यों के सम्मुख समस्याएं रखते थे, शिष्य श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा समस्याओं का निराकरण करते थे। शिष्य समय-समय पर गुरूओं से अपने ज्ञानवर्द्धन के लिए प्रश्न भी पूछते थे। इस समय शिक्षण की प्रमुख प्रचलित प्रणालियां थीं - भाषण विधि, व्याख्या विधि, प्रश्नोत्तर विधि, सूक्ति विधि, अन्योक्ति विधि, कथा विधि तथा कंठस्थीकरण विधि।

तत्कालीन शिक्षा में गुरू शिष्य की उत्सुकता जगाने की चेष्टा करता था। उसकी अन्वेषण प्रवृत्ति को जाग्रत करता था। वह उसकी रूचि के विषय में गहन अध्ययन कें लिए प्रेरणा देता था। वह इस विषय में सामान्य ज्ञान देकर गहन अध्ययन के लिए प्रोत्साहन देता था और उसे विशेष ज्ञान प्राप्त करने में पूर्ण सहयोग देता था। उपनिषदों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रज्ञा के विकास पर अत्यधिक बल दिया जाता था। उपनयन के पश्चात एक दूसरा संस्कार सम्पन्न किया जाता था, जिसको 'मेधाजनन' कहते हैं।

परीक्षा प्रणालीः

प्राचीन शिक्षा प्रणाली में आजकल की भांति वार्षिक अथवा अर्द्धवार्षिक परीक्षा की औपचारिकता नहीं पायी जाती थी। प्रतिदिन के पाठ को गुरू अगले दिन प्रत्येक विद्यार्थी से सुनते थे। पूर्णतः संतुष्ट होने पर ही गुरू अगला पाठ पढ़ाते थे। शिष्य में परस्पर शास्त्रार्थ द्वारा भी गुरू उनकी योग्यता की परीक्षा लेता था। अध्ययन समाप्त होने के बाद भी कोई परीक्षा नहीं ली जाती थी। शिक्षा समाप्ति के बाद शिक्षार्थी को स्थानीय विद्वानों की सभा में प्रस्तुत किया जाता था, जहां पर

उससे कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। किन्तु यह समारोह समावर्तन संस्कार के बाद ही होता था।

समावर्तन संस्कारः

गुरूकुल में ब्रह्मचारी की शिक्षा की समाप्ति पर आचार्य उसे ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन को प्रगतिमय बनाते थे। यह आयोजन समावर्तन या स्नान संस्कार के साथ सम्पन्न होता था। समावर्तन का अर्थ धा गुरू के यहां से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटना। उस समय ब्रह्मचारी स्नान करता था। इसलिए उस क्रिया को समावर्तन का स्नान कहा गया। समावर्तन संस्कार सम्भवतः ज्ञानोपलब्धि का संस्कार था। जिसमें ब्रह्मचारी ज्ञान सागर में स्नान करता था। शिक्षा के अन्त में विद्यार्थी के स्नान के कारण उसे स्नातक कहा जाता था। पाणिनि के ब्रह्मचारी के अध्ययन की समाप्ति को 'समापन' कहा है[49] तथा ब्रह्मचारी को 'स्रग्वी'।

समावर्तन के समय ब्रह्मचारी को सूर्य का दर्शन कराया जाता था, जो उसके तेज और प्रकाश का द्योतक था। ऐसा माना जाता था कि स्नातक सूर्य के तेज से देदीप्यमान् था।[50] समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य उसे शिक्षा देता था कि वह सत्य बोले। धर्म का अनुसरण करे। स्वाध्याय के प्रति सावधान रहे। आचार्य के लिए धन लाए तथा अपनी वंश-परम्परा प्रतिष्ठित रखे। माता, पिता, आचार्य और अतिथि की देवता के रूप में सेवा करे।[51]

शास्त्रार्थ और विचारगोष्ठीः

प्राचीन काल से विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ, ज्ञान चर्चाएँ और विद्वद्गोष्ठियाँ हुआ करती थी। इस संबंध में अनेक उदाहरण मिलते है। पूर्व वैदिक युग में वहुधा

विद्वद्सभाएँ हुआ करती थी, जिनमें स्त्रियाँ भी ऋक्गान क्रिया करती थी।[52] परवर्ती काल में विशेषकर उपनिषद युग में जो ऐसी विद्वद् गोष्ठियाँ शास्त्रार्थ सभाओं के रूप में विकसित हुई। याज्ञवल्क्य का शाक्ल्य से शास्त्रार्थ हुआ था। याज्ञवल्क्य ने ही जनक की राजसभा में होने वाले शास्त्रार्थ का नेतृत्व किया था। इस विद्वत् सभा का कार्यक्रम सम्राट जनक के ही सभा पतित्व में सम्पन्न हुआ था।[53] जितने भी प्रश्न सम्मेलन में ततद् विद्वानो की ओर से उठाये गए थे, सभी का समाधान याज्ञवल्क्य ने किया था।

अनुशासनः

वेदकालीन शिक्षा में अनुशासन द्वारा अत्यधिक विद्यार्थियों की दिनचर्या बंधो हुई थी। इस दिनचर्या के द्वारा उनके व्यक्तित्व का विकास किया जाता था। प्रत्येक के सर्वांगीण विकास की चेष्टा की जाती थी। उनके अन्दर त्याग, तपस्या, विनय और सात्विकता के गुणों को प्रदीप्त करने का प्रयास किया जाता था। उन्हें शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के अनुशासन का पालन करना पड़ता था।

शारीरिक अनुशासन – शारीरिक अनुशासन के अन्तर्गत नियमित दिनचर्या प्रमुख थी। इसके अतिरिक्त छात्र अपने शरीर को स्वच्छ रखता था, उसका रहन–सहन सादा था, भोजन, खान–पान में भी सादगी आवश्यक थी। उसे ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

आध्यात्मिक अनुशासन –शारीरिक अनुशासन के समान ही आध्यात्मिक अनुशासन के लिए भी निश्चित नियम थे, जिनका पालन करना अनिवार्य था। इसमें तपस्या, गुरुसेवा, इन्द्रिय–निग्रह आवश्यक था। मानसिक एवं नैतिक

अनुशासन पर पर्याप्त बल दिया जाता था। ज्ञानेन्द्रिय नियंत्रण आवश्यक था। विद्यार्थी को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान आदि से दूर रहना अनिवार्य था। सदाचार आवश्यक था। केवल दैनिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति ही विद्यार्थी कर सकता था। इससे अधिक सुविधा प्राप्त करना निषिद्ध था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति निम्न स्तर का समझा जाता था उसके लिए आश्रम में रहना वर्जित था। गुरू सेवा अनिवार्य थी। विद्यार्थी मनसा, वाचा, कर्मणा से गुरू भक्त होता था।

सहशिक्षाः

वैदिक युग में सहशिक्षा की प्रथा थी, जिसमें स्त्री और पुरुष समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। स्त्रियों ने पुरूषों की तरह अनेक ऋचाओं की रचना की थी। उपनिषद युग में वे पुरूषों की तरह विद्वद् गोष्ठियों में बैठकर पुरूषों से शास्त्रार्थ किया करती थी। एक साथ वे शिक्षा ग्रहण करती थी और एक साथ वाद विवाद में सम्मिलित होती थी। भूवभूति (8वीं सदी) ने सहशिक्षा का उल्लेख किया है। कामन्दकी ने भूरिवस और देवराट के साथ विद्याग्रहण की थी। आत्रेयी ने वाल्मीकि आश्रम में लव और कुश के साथ शिक्षा प्रापत की थी। कालान्तर में आकर जब स्त्री शिक्षा कम होने लगी तब सह शिक्षा को भी आघात लगा।

वैदिक शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन जब हम समग्रता में करते हैं तो पाते हैं कि तत्कालीन शिक्षा का समग्र ढ़ाचा मूल्य और नैतिकता के पाये पर खड़ा था। वह चाहे पाठ्यक्रम की संरचना हो, शुल्क का ढ़ांचा हो, गुरू शिष्य का आपसी सम्बन्ध हो - सभी के मूल में मूल्य का केन्द्रीय तत्व ही क्रियाशील था वैदिक शिक्षा का ध्येय नैतिकता और मूल्याधारित शिक्षा के माध्यम से शिक्षा का सम्प्रसार एवं राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण था। इसीलिए शिक्षा का हेतु व्यवसाय अथवा

रोजगार नहीं था वरन् शिक्षा का हेतु संस्कारित मानव का निर्माण था शिक्षा, शिक्षा के लिए थी। शिक्षा को केवल रोजगार से सम्बद्ध न करने के पीछे वैदिक ऋषियों के मानस में यह तथ्य स्पष्ट था कि यदि शिक्षा को रोजगार की जननी बना दिया जाये तो कहीं न कहीं मूल्य चेतना को आघात लगेगा। यदि मानवीय और सामाजिक मूल्य बचा रहा तो शिक्षा रोजगार प्राप्ति के लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकती है परन्तु यदि नीति और मूल्य आधारित समाज नहीं बचा तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा का समग्र ताना-बाना मूल्य और नैतिकता के आवरण में लिपटा हुआ था।

नारी शिक्षाः

वैदिक युग में नारी की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। वह पुरूषों के समक्ष बिना भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। इस युग में पुत्र की तरह पुत्री का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। इस युग में नारियों को यज्ञ सम्पादन और वेदाध्ययन करने का पूर्ण अधिकार था। दर्शन और तर्क शास्त्र के अध्ययनप के साथ-साथ वे सभा गोष्ठियों में ऋग्वेद की ऋचाओं का गान किया करती थीं। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि कतिपय विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के प्रणयन में योग प्रदान किया था। रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता निबावरी, धोषा, लोपामुद्रा आदि उस युग की कतिपय विद्वान स्त्रियों थीं। पति के साथ वे समान रूप से यज्ञ में सहयोग करती थीं।[54] सूत्र काल में भी स्त्रियों यज्ञ सम्पादित किया करती थीं।[55] राम के अभिषेक तक कौशल्या ने यज्ञ किया था।[56] उत्तर वैदिक युग में भी स्त्री ब्रह्मचर्य में रहकर शिक्षा ग्रहण करती थी। वैदिक गान के अतिरिक्त वह ललितकलाओं में भी पारंगत होती थीं।

महाभारत से ज्ञात होता है कि पाण्डवों की माँ कुन्ती अथर्ववेद में पारम्गत थी।[57] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उस युग की स्त्रियों मंत्रवित् और पण्डिता होती थीं तथा ब्रह्मचर्य[58] का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थी। वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्गथे - एक सद्योवधू और दूसरा ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू वो छात्रायें थीं जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद मंत्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थीं तथा ब्रह्मवादिनी वे थीं जो अपनी शिक्षापूर्ण करने में जीवन लगा देती थीं। इस प्रकार कुछ स्त्रियां जीवन पर्यन्त अध्ययन में लीन रहती थीं और विवाह नहीं करती थीं। ऋषि कुश ध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही थीं।[59] जो स्त्रियां प्रतिभा सम्पन्न होती थीं वे मंत्रों की उद्गामी होने के साथ दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की पण्डिता होती थी। काश कृत्स्नी ने मीमांसा जैसे क्लिष्ट और गूढ़ विषय पर अत्यधिक बहुचर्चित पुस्तक का प्रणयन किया था जो बाद में उसी के नाम पर विख्यात हुई। इस वर्ग के अध्येता 'काश कृत्सनी' ही कहे गये।[60] याज्ञवल्क्य की पत्नी मंत्रेयी विख्यात दार्शनिका थी जिसकी रुचि अलंकारों में न होकर दर्शन शास्त्र में थी।[61]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद कालीन शिक्षा का समग्र स्वरूप मूल्य एवं नैतिकता के आवरण में बंधा हुआ है। जीवन में शिक्षा का उद्देश्य ही एक संस्कारित और नैतिक व्यक्ति के निर्माण से सम्बद्ध है। वैदिक शिक्षा के उद्देश्य के साथ-साथ शैक्षिक प्रबन्धन भी मूल्याधारित था। शिक्षा के प्रारम्भ से लेकर समावर्तन तक समस्त ढाँचा मूल्य पर आधारित था। वेद कालीन शिक्षा में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध तो नैतिकता की उच्च कसौटी थी जो किसी भी युग की शिक्षा का सशक्त आधार हो सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. छां0 उ0 1.1.10, तेनोभौ कुरूतौ यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति।

2. महाभारत, 12.339.6 नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।

3. वायु पु0 16.21, ज्ञानात शाश्वतस्योपलब्धिः 1, ईश0 उ0, 11, केन0 उ0 4.91

4. ब्रह्मांड पु0, 1.4.15, ज्ञानेनाप्रतिमेन

5. ऋग्वेद, 10.71.7, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजषेषु असमाबभूवुः

6. अथर्ववेद, 11.3.15

7. It was sought as the means of salvation or self realization, the means of the highest end of life, viz - Mukti or Emancipation. Dr. R.K. Mukerji - Ancient Indian Education.

8. रश्मिमाला, 10.2

9. छां0 उ0, 4.101, उपकोक्षलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार।

10. ते0 उ0 , 1.11 अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता आलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्य.तेषु। ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथा।ः

11. अमृतमन्थन, 15.4, सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते।

12. छां0 उ0 3.17.4, अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।

13. छां0 उ0 2,23,1

14. मनु0, 2.118

15. महाभारत, अनुशासनपर्व, 12.321.78
16. अथर्ववेद, 11.5.24
17. वही, 11.5.4
18. वही, 11.5.17
19. भा0 गृ0 सू0, 1.5
20. आश्व गृ. सू0, 1.20.6
21. गीता, 6.17
22. तै0 उ0 1.11
23. श0 ब्रा0 1.5.5
24. अपरार्क द्वारा उद्धृत, याज्ञ0, 1.212
25. तै0 उ0, 1.11 .... आचायं देवो भव।
26. अथर्ववेद, 1.5.3
27. निरूक्त, 1.4, आचार्यः कस्मात्। आचार्य आचारं ग्राहयति।
28. मनु0 2.140
29. मनु0 2.141
30. मनु0, 2.142
31. श0 ब्रा0 4.2.4.1, बृ0 उ0, 3.3.1
32. ऋग्वेद, 10.71.9, 9.112.1
33. अष्टाध्यायी, 4.4.107, समानती र्थेवासी
34. निरूक्त, 2.3
35. क0 उ0, 1.1.20-29
36. छां0 उ0, 5.3.6, 5.11.5, बृ0 उ0 5.3.6, 3.7.1, 5.7.23
37. अथर्ववेद,11.5.24
38. वही,115.17
39. तै0 उ0 2.1

40. छां0 उ0 4.3.5, 4.10.2, 4.4.5, श0 ब्रा0 3.6.2.15
41. आपस्तम्ब ध0 सू0, 10206.13
42. गौ0 ध0 सू0, 3.1.15
43. अथर्ववेद, 11.3.15, शिषपापं गुरोरपि
44. मनु0 2.97
45. छां0 उ0 7.1, श0 ब्रा0 4.6.9.20, 11.5.6.8
46. छां0 उ0, 4.2
47. छां0 उ0, 7.1
48. मु0 उ0, 2.23, प्र0 उ0, 6.1
49. आश्व0 गृ0 सू0, 3.9.4
50. भ0 गृ0 सू0, 11.1.8, एतदहः स्नातानां ह वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्
51. तैत्तिरीयोपनिषद, 11
52. ऋग्वेद, 10.71.11
53. श0 ब्रा0 11.6.31
54. ऋग्वेद, 8.31 या दम्पति सुमनसा आ च धावतः। देवा सो नित्यया शिरा।
55. पा0 गृ0 सू0, 2.20
56. रामायण 2.20.15
57. महाभारत 3.305-201
58. अथर्ववेद 11.8.18
59. रामायण 7.17
60. महाभारत 4.14, 3.155
61. बृह0उ0 2.4, 4.5
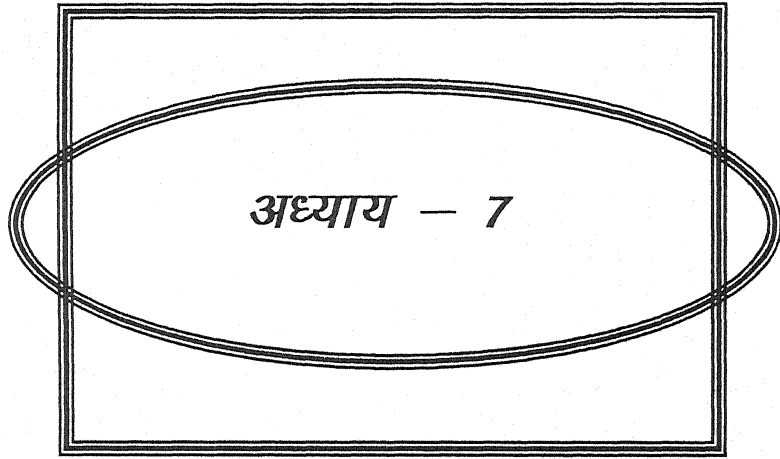
अध्याय – 7

वैदिक कालीन नैतिक एवम् मूल्य शिक्षा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता

पूर्व में अभिचर्चित विभिन्न अध्यायों में अनेकानेक तथ्यों के समीक्षण के माध्यम से वेद कालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। मूल्य क्या है? मूल्य बोध और मूल्य चेतना का विकास कैसे हुआ? मूल्य और नैतिकता का आयाम तथा इसकी इयत्ता क्या है? वेदकाल में सम्पूर्ण शिक्षा किस प्रकार मूल्य आधारित है पुरूषार्थ चतुष्टय की अवधारणा का विकास ही मूल्य को केन्द्र में रखकर किया गया है। भारतीय जीवन पद्धति मे वर्ण संस्कार, आश्रम इन सभी व्यवस्थाओं की शिक्षा का आदर्श एवं आधार मूल्य एवं नैतिकता थी। मूल्यवाद की परम्परा में मूल्य एक अत्यन्त स्फीत और व्यापक शब्द है। यद्यपि वह साध्य अथवा श्रेय का अभिसूचक है तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नहीं है। स्पष्ट है कि सुख, वैराग्य, जीवन इत्यादि में प्रत्येक एक मूल्य है। किन्तु मूल्य उसमें कहीं अधिक व्यापक है। वस्तुतः मूल्य एक तत्व नहीं वरन् एक व्यवस्था है। और उसी व्यवस्था में किसी मूल्य का बोध होता है। अतएव कहा जासकता है कि मूल्य वह है जिसे पाने के लिए समाज और व्यक्ति चेष्टा करते है, जिसके लिए जीवित रहते है और जिसके लिए बड़ासे बड़ा उत्सर्ग करने के लिए उद्यत रहते है। यदि मूल्य के इस वृहद दायरे में वैदिक जीवन तथा वैदिक शिक्षा को समावेशित करना चाहें तो वह पूरी तरीके से इस युक्त सिद्धान्त का प्रकटीकरण प्रतीत होती है।

मूल्य शिक्षा और मूल्य चेतना पर विचार करने के साथ यह प्रासंगिक हो उठता है कि हमने आधुनिक संदर्भो में वेद कालीन मूल्य और नैतिक शिक्षा के बारे में पुनः विचार करना क्यों प्रारम्भ किया ?

क्या इस शैक्षिक चेतना की वर्तमान संदर्भ में भी प्रत्यक्षः अथवा परोक्षतः प्रासंगिकता है ? अथवा वेद कालीन मूल्य शिक्षा के अध्ययन के माध्यम से यह ढूढ़ने का प्रयास किया जा सकता है किसी भी सभ्यता और संस्कृति का आर्ष चिंतन विकास का आधुनिकतम कलेवर प्राप्त करने के बावजूद भी अपनी अर्थवत्ता नहीं खोता है। अथवा क्या उन शाश्वत मूल्यों को आधुनिक मूल्यों के आइने में भी देखने का प्रयास किया जा सकता है ? क्या शाश्वत मूल्य और युगीन मूल्य के मध्य किसी निरंतरता के आधार को तलाशा जा सकता है ? आधुनिक कालखण्ड जहाँ प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की मारा मारी में भौतिक मूल्य इतने प्रभावी हो गये हैं कि धार्मिक मूल्य कहीं न कही अवचेतन की स्थिति तक जा पहुँचे है क्या आज की स्थिति में उन्हें चेतना का ठोस घरातल उपलब्ध करा दिया जाये तो साम्प्रतिक भौतिक उपलब्धियों को नैतिक बनाते हुए उसे अवरूद्ध नहीं करेगे वरन् उसके विकास में योगदान कर सकते है ? इन सभी प्रकार के तथ्यों की पड़ताल के माध्यम से यह रेखांकित करने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में अत्यन्त प्रीतिगर होगा कि वास्तव में भारतीय सभ्यता और संस्कृतिक उषः काल में अथवा मानवीय सभ्यता के विकास के आरंभिक चरणों में वैदिक ऋषियों ने जिन मूल्यों को प्रगतिशील और वैज्ञानिक माना था वे किसी न किसी रूप में चाहे किंचित परिवर्तन के साथ ही हो आज भी प्रतिगामी नहीं है। वरन सामाजिक और राजकीय उन्नयन में सहयोगी हो सकते है।

यह हम वैदिक शिक्षा के आधारभूत तथ्य वर्ण व्यवस्था का उदाहरण ले जिसका प्रादुर्भाव उत्तर वैदिक काल में हुआ- तो पाएँगे इस व्यवस्था का निर्मापन श्रम विभाजन के आधार पर निर्धारित था। यद्यपि वेद कालीन प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के मूल भाग में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल पुरूष सूक्त में सर्वप्रथम विराट पुरूष के माध्यमसे चारों वर्णां के उदय होने की बात स्वीकार की गई है। जो परिशिष्ट है।

इसके वास्तविक स्वरूप का प्रकटीकरण उत्तर वैदिक काल में हुआ। स्पष्टतः वर्ण विभाजन का सिद्धान्त कर्म पर आधारित था। आगे चल कर कर्मकाण्ड के दृढ़ हो जाने, जातियों के उदय एवम् उच्चवर्णों द्वारा समाज पर अपनी वर्चस्व स्थापित करने के क्रम में इसे जन्म से जोड़ दिया गया। जिसने इसके मूल स्वरूप को बाधित किया जिसके टूटने की आर्तनाद व्यवस्थाकारों के कथन और देव वाणी में भी दिखायी देती है जब कृष्ण गीता में कहते हैं कि – ‘‘चार्तुवर्ण्या मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः तथा मनु का यह कथन ‘‘जन्मना जायतेशूद्रः कर्मात द्विज उच्यते’’ इस तथ्य का संकेत है कि वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म था जिसके टूटने से सामाजिक व्यवस्था का एवं देवता सभी को चिन्तित दिखाया गया है। अर्थात सामाजिक दृष्टि से संवेदनशील व्यक्ति वर्ण व्यवस्था के उद्‌भव के केन्द्रीय मूल्य के टूटने पर चिंतित ही नहीं है वरन् वापस मूल भावना पर समाज को ले जाने के लिए प्रयासरत भी दिखाई देते हैं। किसी भी समाज में किसी न किसी रूप में वर्गीय चेतना दिखाई देती है। प्राचीन भारतीय समाज में भीइसका निर्देशन वर्ण के रूप में हुआ है लेकिन इसकी मूल भावना को कर्म से जोड़कर श्रम आधारित मूल्य को स्थापित किया गया था। यद्यपि कालान्तर में कुछ ही समय बाद इसकी मूल भावना व्याघातित हो गई और सामाजिक ठेकेदारों ने इसे

विकृत कर इस पर अपने एकाधिकार का कुत्सित प्रयास किया। वह विकार इतना बढ़ा कि आधुनिक भारतीय समाज भी उससे वंचित नहीं रह सका आज धार्मिक और जातीय उन्माद ने वर्ग संघर्ष के कई विकृत कीर्तिमान स्थापित किए है। वैज्ञानिक समाज की प्रगति में यह भावना एक बहुत बड़े अवरोधक के रूप में सामने है। आज आवश्यकता है वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था की वकालत करते हुए नहीं वरन् उसके उद्भव मूल में सन्निहित श्रम तथा कर्म के दर्शन एवं मूल्य से आधुनिक समाज को परिचित कराया जाये और यह बताने का प्रयास किया जाये कि भारत का वर्ग सिद्धान्त वर्ग संघर्ष की चेतना को न जन्म देकर बल्कि वर्गीय एकात्मता को जन्म देने वाला था। जिसमें कहीं भी हीन भाव नहीं था बल्कि ये सारे दुश्विचार बाद की प्रक्रिया में बलात् लाए गये।

यदि वैदिक कालीन आश्रम व्यवस्था को हम विवेचन का विषय बनाएँ तो देखते है कि यह व्यवस्था भी मानवीय जीवन मूल्य सेगहरे रूप में सम्बद्ध थी। आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व के उत्थान का महत्वपूर्ण आधार थी। प्रारम्भ से लेकर अंत तक मानव का सम्पूर्ण जीवन इसी के माध्यम से गतिशीलता प्राप्त करता था। मानव जीवन की इन चार अवस्थाओं की योजना अत्यन्त वैज्ञानिक थी। मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय चिंतन से प्रभावित होकर व्यवस्थाकारों ने जीवन को व्यावहारिकता के धरातल पर चार भागों में विभक्त किया। यह विभाजन मानव की अवस्था से सम्बद्ध था- बाल्या, युवा, प्रौढ़ा, वृद्धा। इन्ही अवस्थाओं की अर्थ व्यञ्जना आश्रमों में भी ध्वनि होती है। शिक्षा और विद्यार्जन बाल्यकाल में ही संभव है। यह अवस्था निर्माण और रचनात्मक कार्यो की होती है। जो भी यम नियम आचार विचार की शिक्षा बालक को दी जाती है। उसे वह शीघ्रता से ग्रहण करता है और यही ज्ञान उसके भावी जीवन के आधार बनते

है इसीलिए व्यवस्थाकारों ने बाल्यकाल को ब्रह्मचर्य आश्रम से संम्प्रक्त किया। इसी प्रकार व्यक्ति की निर्वाध यौनवृत्तियों और आकर्षणों को समुचित मार्ग दर्शन के लिए गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था की गई थी। जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने पुरूषार्थों तथा विभन्न संस्कारों को सम्पन्न करता था। वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत इन्द्रिय निग्रह के साथ अपने मन मस्तिक को एकाग्र करने का प्रयास करता था। अपने सात्विक एवं अनुशासित जीवन से वह समाज कामार्ग दर्शन करता था। अपने इन युक्त सभी कार्यो को सम्पन्न करने के उपरांत मनुष्य वह संयास आश्रम की ओर उन्मुख होता था। जो मनुष्य के मोक्ष प्राप्ति का चरण माना गया है। कर्तव्य और उत्तर दायित्व के आधार पर आश्रम व्यवस्था को आश्रम धर्म भी कहा गया है। धर्म का अर्थ यहां कर्म और उत्तरदायित्व से है। इस प्रकार हम देखते है कि आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यवस्थाकारों ने मनुष्य को सामाजिक सन्नियमन हेतु नैतिकता तथा सदाचार देने का प्रयास किया। जिसके अन्तर्गत वाल्यावस्था से लेकन वृद्धावस्था तक मानव का सम्पूर्ण जीवन यथा निर्दिष्ट जीवन मूल्य से आबद्ध था। आश्रम व्यवस्था अपनी श्रम मूलक कार्यविधियों और आध्यात्म मूलक निर्देशों के नाते एक सशक्त और सबल नैतिक भूमिका का निर्वाह करती रही। इस व्यवस्था के अनुपालन से व्यक्ति का समाजीकरण होता था और वह समष्टि के विकास में अपना सहयोग देता था। आधुनिक समाज में भी आश्रम व्यवस्था के इस नैतिक शिक्षा अथवा हेतु का मूल्य स्वतः सिद्ध है।

वैदिक काल से ही भारतीय समाज में संस्कारों का संयोजित विधान रहा है मानव जीवन में इसकी संयोजना इसलिए की गई कि मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक विकास हो सके तथा उसका भौतिक जीवन सुव्यवस्थित हो सके। व्यक्ति के असंस्कृत रुप को सुसंस्कृत और अनुशासित करने के निमित्त संस्कारों की

योजना हुई। धर्म, यज्ञ और कर्मकाण्ड इसके मूल आधार थे। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। अतएव संस्कार का आधार धर्म है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है। वैदिक काल से लेकर अद्यतन अनेक परिवर्तनों के बाद भी हिन्दू समाज में संस्कारों का महत्व स्थापित है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति का नैतिक सामाजिक और धार्मिक विकास होता है। प्राचीन कालीन नैतिक शिक्षा के स्वरूप एवं उसके प्रकटीकरण के संस्कार उन्नत साधन थे। संस्कारों का विधान अलौकिक पृष्ठ भूमि में व्यक्त किया गया तथा इसकी उत्पत्ति में मानवीय प्रवृत्तियों का हाथ माना गया। यह आख्यानों के निर्माण में निहित प्रवृत्ति से भी सुस्पष्ट है। ऐसी स्थिति में संस्कार सामाजिक धार्मिक अवधारणा है। जीवन में नैतिक आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के निर्माण और उनमें अपने व्यक्तित्व को उत्कर्षित करना भी धर्म सम्मत मनुष्य को अभिलषित लक्ष्य रहा है।

संस्कारों की इस प्राचीन शिक्षा का आधुनिक संदर्भो में भी विशेषअर्थ बना हुआहै संस्कार यद्यपि कि धर्म और कर्मकाण्ड के रूप में संबद्ध थे परन्तु इनका प्रतीकात्मक रूप स्पष्ट था। उदाहरण के रूप में यदि निर्धारित षोडष संस्कारों में कुछ संस्कारों का आधुनिक काल में भी उसके महत्व को रेखांकित करना चाहें तो स्पष्ट रूप से उसका महत्व हमारे सामने आता है जैसे पुंसवन और सीमांतों नयन संस्कार का ही उदाहरण ले जो गर्भ धारण के दूसरे तथा चौथे महीने सम्पादित किया जाता था जिसके पीछे उस मर्यादित गर्भ को सुरक्षित रखने स्वस्थ संतान को उत्पन्न करने तथा उसके प्रति पारिवारिक और सामाजिक दायित्व को निर्दिष्ट करने का एक माध्यम था। यदि आज भी इन संस्कारों के माध्यम से उसके प्रतीकात्मक

रूप को व्यक्ति और समाज के सामने उद्घाटित किया जाये तो भ्रूण हत्या जैसी दुश्प्रवृत्ति का निवारण किया जा सकता है जिसे लेकर आज विश्व चिंतित है।

इसी क्रम में यदि विद्यारम्भ संस्कार के महत्व को हम रेखांकित करना चाहें जो बालक के पांचवे वर्ष में सम्पादित होती थी तो उसका मनोवैज्ञानिक महत्व स्पष्ट है। आज भी 5 वर्ष के आस पास ही बालक को विद्यालय भेजने का उपयुक्त समय माना जा रहा है क्योंकि सम्यक मानसिक विकास एक निश्चित उम्रसे ही प्रारम्भ होता है। जो भी बालक दो अथवा तीन वर्ष में विद्यालय को प्रेषित किए गये। आगे चलकर उनका मानसिक विकास समुचित रूप से नहीं हो पाया। कारण स्पष्ट था अबोध व्यक्तित्व पर बस्ते का बोझ अर्थात वैदिक कालीन संस्कार शिक्षा में 5 वर्ष की अवस्था पर ही विद्यारम्भ अथवा वर्णमाला के प्राथमिक अक्षरों का ज्ञान कराना है एक मनोवैज्ञानिक संस्कार था। जिसके माध्यम से उचित समय पर ही बालक को शिक्षा से परिचित कराया जाये। बालक का मानसिक बौद्धिक और संवेगात्मक विकास इस संस्कार से सबल होकर सामने आता था। इसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इसी प्रकार उपनयन संस्कार का भी उच्च शिक्षा हेतु अपना विशेष महत्व था। वेद उच्च शिक्षा के आधार थे और उनके गूढ़ार्थ को एक निश्चित आयु से पूर्व नही समझा जा सकता था। अतएव उच्च शिक्षा में प्रवृत्त होने से पूर्व यह संस्कार अपना तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक आधार रखता था। आज भी उच्च शिक्षा के लिए एक निश्चित आयु की बात स्वीकार की जाती है।

भारत में विवाह एक श्रेष्ठ संस्कार में परिगणित किया गया है जबकि पश्चिमी देशों में इसे एक संविदा करार दिया गया जिसका दुःष्परिणाम पति-पत्नी में हो रहे तलाक और परिवार के टूटन के रूप में सामने आया है। यदि इस संस्था के पीछे छिपे हुए इस दर्शन का प्रचार प्रसार इस प्रकार किया जाये कि

विवाह एक संविदा नहीं वरन् एक संस्कार है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता, आजन्म एक साथ रहने की प्रतिबद्धता इसमे निहित है यह मानव के समस्त ऋणों में 3 ऋण होने का माध्यम है और पुरूषार्थ चतुष्टय का माध्यम भी है, यदि इस मंतव्य को स्थापित करने का प्रयास किया जाये तो दुनिया भर में टूटते हुए सामाजिक मूल्य एवं पारिवारिक असंतुलन को संतुलित किया जा सकता है इस रूप में इसकी महत्ता आज भी वर्तमान है।

इस प्रकार इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कारों के माध्यम से प्राचीन काल में जिन नैतिक मानदण्डों एवं मूल्यों की शिक्षा व्यक्ति को दी जाती थी वे व्यक्ति को नैतिक शैक्षणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक रूप से तो उन्नत करते ही थे बल्कि जैविकीय ज्ञान का आधार भी प्रदान करते थे। जिस काल में स्वास्थ्य विज्ञान और प्राजनन विज्ञान का विकास नहीं हुआ था उस समय संस्कार ही व्यक्ति के जैविकीय ज्ञान के आधार थे। गर्भाधान और पुंसवन आदि ऐसे ही संस्कार थे जिनमें गर्भिणी स्त्री को सुशिक्षित किया जाता था।

वेद कालीन मूल्य शिक्षा का आधार पुरूषार्थ चतुष्टय की अवधारण मे सन्निहित था यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा। पुरूषार्थ मनुष्य का वह आधार है जिसके माध्यम से वह अपना जीवन जीता है तथा मनोयोग पूर्वक पालन करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरूषार्थ बताये गये है। जिनके माध्यम से मनुष्य जीवन जगत और ईश्वर के प्रति अपनी कर्मनिष्ठता ज्ञापित करता है। धर्म, अर्थ और काम जिन्हे पुरूषार्थ त्रयी कहा गया है साधन मूल्य की श्रेणी में आते है और मोक्ष जो अन्तिम पुरूषार्थ था प्राप्त करने के लिए धर्म, अर्थ और काम तीनों ही मूल्यों की निर्विवाद आवश्यकता है उसे मोक्ष कहा जाता है। पुरूषार्थो के माध्यम से व्यक्ति को लौकिक जीवन के प्रति जागरूक रखते हुए पारलौकिक जीवन के

प्रति भी उत्कंठित रखा जाता था। धर्म वह है जिससे दूसरे को दुःख न पहुँचे धर्म के ज्ञान के माध्यम से मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों, विवेकशील प्रवृत्तियों और न्याय प्रधान क्रियाओं को सही रूप में समझ सकने और उनका अनुगमन कर सकने में समर्थ होता है। धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यो को देशकाल और परिस्थिति के आधार पर व्यवस्थित संयमित और नियंत्रित करता है तथा उसे सम्यक् जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है यदि धर्म की इस विराट अवधारणा को आधुनिक परिस्थिति में भी लागू किया जाये तो सामाजिक सौहार्द और सामाजिक संतुलन की भावना को विकसित किया जा सकता है। सदाचार को धर्म का विशिष्ट लक्षण स्वीकार किया गया है– 'आचारः परमो धर्मः' यदि इसे जीवन का आधार माना जाये तो नीति से विमुख होते हुए और अराजक होते हुए समाज को आज भी बचाया जा सकता है। महाभारत में यह वर्णित है 'अहिंसार्थाय भूतानाम् धर्म प्रवचनम्' अर्थात धर्म का अर्थ लोक कल्याण की भावना है। यह मानव् को एक और यदि लौकिक अभ्युदय देता है तो दूसरी ओर पारलौकिक सुख भी प्रदान करता है। धर्म और सत्य के माध्यम से वैदिक ऋषियों द्वारा प्रदान की गई यह मूल्य और नैतिक शिक्षा आधुनिक युग का भी युग धर्म बन सकता है।

इसी प्रकार यदि दूसरे पुरूषार्थ अर्थ का विश्लेषण करें तोयह स्पष्ट होता है कि अर्थ का अभिप्राय उन सभी उपकरणों अथवा भौतिक साधनों से है जो व्यक्ति को समस्त लौकिक सुख उपलब्ध कराते है। व्यक्ति को अपने जीवन में अनेकानेक कर्तव्य को एवं उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में अर्थ की आवश्यकता पड़ती है लेकिन इस अर्थ का उपार्जन किसी भी प्रकार न होकर धर्म से निर्दिष्ट होना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ समुचित प्रकार से है। अर्थ की यह मूल्य परक

अथवा नैतिक शिक्षा आधुनिक समाज को संतुलित करने के लिए अत्यन्त अभीष्ट है। जहाँ अर्थोपार्जन की विकराल प्रतिस्पर्धा ने नीति अनीति और सभी सांसारिक वर्जनाओं को खण्डित कर दिया है। यद्यपि महाभारत में 'धनमाहुः परम धर्म,धने सर्व प्रतिष्ठितम्' अर्थात अर्थ ही उच्चतम धर्म है तथा अर्थ को ही धर्म एवं काम का आधार माना गया है। जो धन से अनादृत है वह धर्म से भी है। मनु भी त्रिवर्ग को श्रेय मानते है और उसमें अर्थ की विशेष महत्ता स्वीकार करते है धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्मएव च। व्यक्ति के जीवन में अर्थ केन्द्रीय तत्व है परन्तु अर्थार्जन व्यक्ति को अनैतिक तथा अनाचारी न बना दे इसलिए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि यदि अर्थ और कामधर्म विरुद्ध हो तोउनको छोड़ देना चाहिए। परित्यजेदर्शकामौ यौ स्यातां धर्म वर्जितै अर्थात अर्थ के निमित्त किए जाने वाले प्रयास में धर्म की संस्तुति अत्यावश्यक थी। वेद कालीन इस मूल्य शिक्षा का आधुनिक युग के लिए सर्वाधिक महत्व प्रतीत होता है।

काम मनुष्य का तीसरा पुरूषार्थ है। भावना और इंद्रिय सुख काम के प्रधान लक्षण है। व्यक्ति की समस्त कामनाएँ प्रवृत्तियाँ तथा आसक्ति मूलक वृत्तियाँ। काम के अन्तर्गत आती है। अतएव काम मनुष्य जीवन की सहज प्रवृत्ति है जो उसके इद्रिय सुख में संबद्ध है। महाभारत में कहा गया है कि धर्म सदा ही अर्थ की प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल किन्तु इन तीनों का मूल कारण है संकल्प और संकल्प है विषय रूप

धर्म मूलः सदैवार्थः, कर्मोऽर्थ फलमुच्यते
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः

महाभारत, शा.पर्व. 123.4 व्यवस्थाकारों ने बिना धर्म और अर्थ को बाधा पहुँचाये काम के पालन का निर्देश किया है। काम को पुरूषार्थ चतुष्टय में तृतीय

सोपान पर रखते हुए उसे अति महत्व का स्वीकार किया गया है फिर भी इससे सामाजिक अनीति न पैदा हो इसका सर्वत्र ध्यान रखा गया है। आधुनिक युग में भी प्राचीन कालीन इस नैतिक शिक्षा के आदर्श एवं आधार की अत्यन्त उपयोगिता है।

पुरूषार्थ चतुष्टय के माध्यम से प्राचीन ऋषियों ने समाज में काम शिक्षा की अवधारणा को जन्म दिया था। जिसे आधुनिक संदर्भो में भी अत्यन्त आवश्यक समझा जाने लगा है। भारत का मध्यकाल विदेशी आक्रमण और संक्रमण का काल था। उस परिवेश में आर्षचिन्तन पीछे छूटता गया और नवीन संकुचित मान्यताओं ने अपने को बचाने के नाम पर एक पृथक स्वरूप ग्रहण कर लिया यदि आधुनिक काल में भी एक निश्चित आयु से विद्यालयों में काम शिक्षा को अनिवार्य बनाकर छात्रों को प्रशिक्षित करने के साथ-2 यदि उसके पीछे छिपे हुए नैतिक मूल्य के आदर्श से भी छात्रों को सुपरिचित कराया जाये तोकाम को उन्मुक्त और स्वच्छन्द मानने के कारण जो सामाजिक .मर्यादायें विखंडित हो रही है उन्हें अक्षुण्ण रखते हुए एक स्वच्छ समाज का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। आधुनिक समाज में एड्स जैसी महामारी का प्रसरण और उसके रोकथाम पर किए जाने वाले अपार व्यय को काम शिक्षा के प्रसार एवं उसके प्रतिमानों को जागरूक बनाने के लिये यदि किया जाये और साथ ही वे काम को पुरूषार्थ मानने के पीछे छुप हुऐ वैदिक कालीन मूल्य और नैतिक आदर्श के दर्शन को भी छात्रों को समझाया जाये तो आधुनिक समाज को एक नीति युक्त और सुसंगत समाज बनाने में सहयोग प्रदान किया जा सकता है।

पुरूषार्थ की परम परिणति मोक्ष है और मोक्ष व्यक्ति का साध्य मूल्य है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। मोक्ष सम्यक ज्ञान के बिना असंभव

है। मोक्ष का कार्य केवल विदेह मुक्ति नहीं है वरन् सांसारिक जीवन जीते हुए अपने को परिष्कृत मानव एवं दक्ष मानव बनाना भी एक मुक्ति है जिसे संदेह मुक्ति की परिधि में लाया जाता है। गीता में कहा गयाहै कि जो पुरूष सम्पूर्ण कर्मो को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा किया हुआ देखता है अर्थात इस बात को तत्वतः समझ लेता है वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अर्थात प्रकृति और पुरूष की यथार्थता और उसके अर्न्तसम्बन्ध को समझना ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के तीन आधार कर्म, ज्ञान और भक्ति बताये गये है। निश्चित रूप से मोक्ष काआधार सम्यक ज्ञान और आचरण है और इसका सम्बन्ध वैयक्तिक है लेकिन मोक्ष जैसी उदात्त अवधारणा को भी कतिपय उपनिषदों ने हेय करार दिया है क्योंकि इसमें समष्टिगत भाव का अभाव है। उपनिषदों के इस कथन सेयह समझ सकते है कि वेद कालीन मूल्य शिक्षा का चरम हेतु यद्यपि मोक्ष में सन्निहित था फिर भी यह कहीं न कहीं व्यक्ति को स्वकेन्द्रित बना रहा था इस निमित्त इसे भीत्यागने का आहवान किया गया। इस वैदिक मूल्य परक शिक्षा का आधुनिक युग में अत्यन्त महत्व बढ़ जाता है क्योंकि समाज व्यक्ति केन्द्रित और आत्म केन्द्रित होता जा रहा है। व्यक्तिवाद इतना प्रभावी हो गया है कि वह अपने सामाजिक दायित्व और कर्तव्य से भी बड़ा हो गया है। आधुनिक समाज को यह बताने की आवश्यकता है कि जिस युग में मूल्य शिक्षा का चरम मोक्ष था और तत्कालीन व्यवस्थाकारों को यह आभास हुआ कि मोक्ष का यह चिंतन व्यक्तिगत आग्रह को मजबूत कर रहा है तो सामाजिक हित को सर्वोपरि स्वीकार करते हुए उसे भी छोड़ने का आहवान कर डाला। आज भी व्यक्तिगत विकास के साथ-2 सामाजिक और राष्ट्रीय विकास कितना आवश्यक है वैदिक कालीन मूल्य शिक्षा के इस दर्शन के आधार पर समाज को प्रशिक्षित तथा दिग्दर्शित किया जा सकता है।

यदि हम मूल्याधारित समग्र वैदिक शिक्षा के स्वरूप और विकास की पृष्ठभूमि को तलाशें तो पाएँगे कि आधुनिक शिक्षाको स्वस्थ और सुव्यवस्थित करने के लिए उन मूल्यों की आवश्यकता आज भी किसी न किसी रूप में शिक्षा के अनिवार्य तत्व के रूप में सामने आती है। धर्माधारित वैदिक शिक्षा केवल अध्यात्म की शिक्षा नही देता था वरन व्यक्ति को लौकिक कर्तव्यों के पालन हेतु समर्थ भी बनाता था। धर्म सम्पूर्ण व्यवस्था पर नियंत्रक की भूमिका में था। वेद कालीन शैक्षिक व्यवस्था में गुरूकुल का अपना विशिष्ट महत्व था जहाँ शिष्य अहर्निश गुरू के सानिध्य में रहकर शिक्षार्जन का कार्य सम्पन्न करता था। गुरूकुलों में छात्रों की संख्या समिति होती थी। गुरूकुल वेद ज्ञान तथा लौकिक साहित्य दोनों के अध्याय के केन्द्र थे। गुरूकुल में रहते हुए छात्र के अन्तर्गत सहवास तथा सहगामी प्रवृत्ति का स्वतः विकास होता था। आज भी सामाजिक सौहार्द्र हेतु इस भावना की महती आवश्यकता है।

जहाँ तक वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था में गुरू शिष्य के संबंध का प्रश्न है हम देखते है कि गुरू शिष्य को पुत्रवत प्रेम करते थे और गुरू के प्रति शिष्य का भाव अत्यन्त पावन और उदात्त था। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में कई उद्धरण ऐसे प्राप्त होते है जहाँ गुरू शिष्य को पुत्र से पहले रखता था। पाणिनि का मत है कि दोनों परस्पर एक दूसरे की छाते के समान रक्षा करते थे। आधुनिक संदर्भो में भी गुरू शिष्य के अन्योन्याश्रित संबंध की उदात्ता अपेक्षित प्रतीत होती है। आज की शिक्षा व्यवस्था में गुरू शिष्य के बिगड़ते हुए रिश्तों की जड़ में इस पारम्परिक मूल्य का ह्रास एक प्रमुख कारण है। इसे पुर्नप्रतिष्ठित कर शिक्षा को सार्थक बनाने हेतु उक्त वैदिक उच्चादर्श को प्रयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

आधुनिक विश्व में पर्यावरण संवर्धन एवं संरक्षण को लेकर चतुर्दिक चिंता के स्वर उभर रहे है। मानव ने अपने भौतिक विकास के लिए प्रकृति को मात्र उपभोग का साधन मान लिया। यह उपभोग इतना कर्कश और अनियंत्रित हो गया कि दोहन की सभी सीमाओं का लॉघ गया। आज प्रकृति के असन्तुलन से सम्पूर्ण मानवता पर संकट खड़ा हो गया है। यदि हम उपनिषदों की वाणी पर ध्यान दें तो बहुत पहले ही उपनिषदों ने 'तेन त्यक्तेन भुंजीथ' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर प्रकृति के नियंत्रित उपभोग का ध्यान मनुष्य की ओर आकृष्ट कराया था जो तत्कालीन समाज में वैदिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित है। इतना ही नहीं वैदिक संहिता में वनों की महत्ता का स्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है- क्वतद् वनं क्वस वृक्षः

यतोद्यावाः पृथ्वी निश्चचक्षुः।

इसी वैदिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए पुराणों ने हरा पेड काटने वाले को असिपत्र नाम के नरक में जाने का विधान किया है। इस प्रकार पर्यावरण की शिक्षा भी मूल्य और धर्म से जुड़ी हुई थी। संहिताओं में वृक्षों पर देवताओं के वास को स्वीकार किया गया है। कहीं न कहीं इन प्रतीकों के माध्यम से मानव को प्रकृति रक्षण की ओर प्रेरित करने का एक प्रयास था। आज भी इस घोर भौतिक युग में प्रकृति संरक्षण के लिए कहीं न कहीं मूल्य आधारित शिक्षा अथवा सन्देश की आवश्यकता है और वह मूल्य हमारे आर्ष ग्रन्थों में सुरक्षित है। प्रकृति के सभी अंगों और उपांगों को देवता बनाकर एक अनुपम मूल्य स्थापित किया गया था। पर्यावरण संरक्षण के लिए आधुनिक युग में भी इस प्रकार के मूल्यों को फिर से परिभाषित करने तथा समझने एवं समझाने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में आज सर्वाधिक विमर्श का विषय यह है कि छात्रों को मूल्य एवं नैतिकता की शिक्षा कैसे प्रदान की जाये क्या मूल्य और नैतिक शिक्षा को एक विषय मान कर और उससे एक शिक्षक को सम्बद्ध कर उसके पाठ्यक्रम का स्वरूप निर्धारित किया जाये अथवा इसे सभी विषयों के मूल में रखा जाये अथवा इसे एकीकृत पाठ्यक्रम के रूप में समस्त शैक्षिक गतिविधियों में निरूपित किया जाये। वैदिक काल में मूल्य और नैतिक शिक्षा का कोई एक निश्चित पाठयक्रम नहीं था और नही यह एक निश्चित विषय के रूप में पढ़ाया जाता था वरन् सम्पूर्ण शैक्षिक क्रिया कलापों में इसका प्रकटीकरण होता था। शिक्षा का पाठ्यक्रम हो, गुरू शिष्य सम्बन्ध हो, संस्कार हो और शिक्षा का उद्देश्य हो, गुरूकुल की व्यवस्था हो शिक्षा संबंधी कोई कर्मकाण्ड हो इन सभी क्रिया कलापों को मूल्य और नैतिकता की परिधि में आबद्ध किया गया था। कुछ भी मूल्येतर नही था अर्थात वैदिक काल में मूल्य और नैतिकता केन्द्रीकृत पाठ्यक्रम के रूप में प्रदान की जाती थी जिसका परिलक्षन सर्वत्र होता था आज भी सर्वमान्य मान्यता के रूप में यही तथ्य सामने आ रहा है कि आधुनिक शिक्षा की सभी गतिविधियों में राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्य का प्रकटीकरण होना चाहिये अर्थात वैदिक कालीन शैक्षिक प्रतिमान आज भी बहुत कुछ अर्थो में उत्प्रेरक माना जा सकता है। आधुनिक भारत में शैक्षिक सुधार एवं शैक्षिक संवर्धन के लिये बनाये गये विभिन्न शिक्षा आयोगों ने भी अपनी संस्तुतियों में मूल्य शिक्षा की पुरजोर वकालत किया है। जिसमें कोठारी आयोग तथा राष्ट्रीय शिक्षा आयोग को उदाहृत किया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने भारतीय संस्कृति और मूल्य शिक्षा को अनिवार्य माना है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में शिक्षण विधि का अध्ययन भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। शिक्षण विधि के माध्यम से किसी भी शिक्षा को अधिकतम छात्र ग्राहय बनाने का प्रयास करते है। इस परिप्रेक्ष्य में यह देखना अत्यन्त रोचक होगा कि वैदिक कालीन शिक्षण विधि (शिक्षण विधि में भी मूल्य का आग्रह था) का स्वरूप क्या था? यद्यपि वैदिक शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप बहुत औपचारिक नहीं था तथापि तत्कालीन विधि आज भी उपयोगी हो सकती है अथवा नहीं? वैदिक कालीन शिक्षण व्यवस्था में चिंतन, मनन, निदिध्यासन, तर्क विधि, पृच्छा विधि, आख्यान विधि श्रवण विधि, कंण्स्थ विधि इत्यादि का अनुपालन हुआ है। आधुनिक शिक्षण विधि में भी कतिपय उक्त मनोवैज्ञानिक विधि का प्रयोग दिखाई देताहै। इसके अतिरिक्त कतिपय आधुनिक विधियों का भी संचार शिक्षण विधियों के रूप में हुआ है। जैसे आडियो विजुअल विधि। परन्तु चिन्तन मनन विधि, तर्क और पृच्छा विधि लगभग समाप्त प्राय हो गये है। आधुनिक शिक्षण विधि के आधार पर यदि हम शैक्षिक सफलताओं को मीमांसित क़रते है तो पाते है कि छात्र में सूचनात्मक ज्ञान का अंबार तो बढ़ा है परन्तु तर्क और विश्लेषण कम हुआ है कारण पुस्तकों का बोझ और उनमें सन्निहित सूचना को ही अंतिम ज्ञान मानने के कारण यह परिणाम सामने आये। भारत में गठित राधाकृष्णन आयोग की संस्तुतियों में बहुत पहले ही इस ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए यह सिफारिश की है कि विद्यालय का प्रारम्भ मौन से शुरू हो अर्थात मनन की प्रक्रिया आधुनिक शिक्षण विधि में एक निश्चित स्थान प्राप्त कर सके। यहाँ पर महाभारत का वह प्रसंग – जिसमें द्रोणाचार्य अपने सभी शिष्यों को क्रोध न करने की शिक्षा देते है और जब दूसरे दिन अपने छात्रों सेयह पूछते है कि कल का पाठ किसने-किसने याद कर लिया। इस पर युधिष्ठिर को छोड़ कर सभी शिष्य पाठ याद करने की बात स्वीकार करते है। लगातार युधिष्ठिर अपने गुरू के सम्मुख कई दिनों तक यह कहते रहे कि

अभी उन्हें पाठ याद नही हुआ। जब गुरू द्रोण ने पूछा कि अभी तक यह लघु पाठ तुम्हें याद क्यों नहीं हुआ तो युधिष्ठिर ने कहा कि बहुत प्रयास के बाद भी कभी–कभी मुझे क्रोध आ ही जा रहा है। आपके पाठ याद करने का आशय तो क्रोध पर पूर्ण विजय है गुरूदेव, जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उसे पाठ याद करना कैसे कहा जायेगा। गुरू द्रोण मुस्कुराये और युधिष्ठिर को वास्तविक शिष्य स्वीकार करते हुए यह भी प्रमाण पत्र दिया कि इस परीक्षा में युधिष्ठिर ही अकेले उत्तीर्ण हुए। यह उद्धरण शिक्षा के उस मूल हेतु को बताने के लिए पर्याप्त है कि किसी भी शिक्षा का अर्थ व्यावहारिक जीवन में उसका स्वीकरण तथा अनुपालन है आज भी शिक्षा में एकीकरण तथा भाई चारे का पाठ पढ़ाया जाता है लेकिन समाज में भाईचारा अथवा सौहार्द्र का सर्वाधिक अभाव दिखता है। कारण कि सामाजिक सद्भाव की शिक्षा केवल एक पाठ बन कर रह गई है। त्रासदी यह है कि वह आचरण न बन सकी। अतएव इस बात की महती आवश्यकता है कि आधुनिक शिक्षण में भी चिंतन मनन विधि का निश्चित स्थान हो जहाँ छात्र यह मन्थन कर सके कि उसने कितना सीखा और उसे जीवन में कितना उतार पाया। विश्लेषण के उपरान्त आज यह मान्यता बलवती होने लगी है कि वही शिक्षण विधि अधिक उपयोगी है जिसमें शिक्षण कम और अधिगम अधिक हो। ऐसा कहने के साथ ही कतिपय वैदिक कालीन मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियाँ स्वतः प्रासंगिक बन उठती है जिनका उपयोग चाहे मूल्य एवं नैतिक शिक्षा के लिए हो अथवा मानविकी तथा विज्ञान के लिए हो। तर्क एवं पृच्छा विधि का भी आधुनिक शिक्षणविधि में विस्तार की आवश्यकता है जिससे छात्र की जिज्ञासा पूर्णतः शान्त होती है, वह संतुष्ट होता है शिक्षक के प्रति आदर भाव दृढ़ होता है तर्कणासशक्त होती है और वह शिक्षाके वास्तविक अर्थ को समझते हुए अपने जीवन में तथा सामाजिक

राष्ट्रीय उत्थान में उसे लागू करने के प्रति उसकी प्रतिबद्धता में भी अभिवृद्धि होती है।

युधिष्ठिर और गुरूद्रोण के उक्त संवाद से तत्कालीन परीक्षा प्रणाली के अनौपचारिकता की एक झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार के उद्धरण वैदिक वाड़मय में भी इतस्ततः बिखरे हुए है। जो यह प्रति ध्वनित करते है कि आधुनिक शिक्षण व्यवस्था में जिस प्रकार की परीक्षा की औपचारिक पद्धति है जिसमें वर्ष पर्यन्त किसी भी विषय की शिक्षा दी जाती है और तदुपरांत निर्धारित तिथि पर कतिपय सीमित प्रश्नों के आधार पर छात्र का मूल्यांकन अथवा परीक्षण किया जाता है जो विषय अथवा विषय बोध की समग्रता में छात्र ज्ञान को आंकने का एक दुर्बल तरीका है। वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था में छात्र का परीक्षण और मूल्यांकन उसके अध्ययन की कालावधि में दिनचर्या का एक अंग था। छात्र के उठते बैठते विषय पर बात करते, विषय का पाठ करते अथवा व्यवहार में उसका अनुपालन करते सभी अवसरों पर किया जाता था। परीक्षा शिक्षण के उपरांत छात्र के ऊपर मानसिक दबाव आरोपित करने का कोई उपकरण नही थी वरन् सर्वांग शिक्षा की एक स्वस्थ प्रक्रिया थी। आज भी इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि छात्रका परीक्षण आधुनिक काल में प्रचलित माध्यम से न होकर नित्य नैमित्तिक परीक्षण (Assessment) के माध्यम से किया जाय जिससे छात्र परीक्षा से भया क्रान्त न हो, उसका समग्र एवम् सम्यक मूल्यांकन हो सके तथा उसके बालपन को संरक्षित रखते हुए आत्म हत्या जैसी कुप्रवृत्ति की वृद्धि को भी रोका जा सके। इस रूप में इस आधुनिक परीक्षण प्रणाली की संस्तुत मान्यता में वैदिक शिक्षण की झलक देखी जा सकती है। इस माध्यम से विषय बोध तथा मूल्य बोध की व्यापकता को परीक्षित किया जा सकता है।

आधुनिक काल में शिक्षा में अनुशासन विषय भी विमर्श का स्थान ले चुका है। छात्र को अनुशासित रखने के लिए किस प्रकार के दण्ड अथवा शैक्षिक व्यवस्था को निरूपित किया जाना चाहिए। आधुनिक शिक्षणालयों में शैक्षिक अनुशासन के रूप में शारीरिक दण्ड को अत्यधिक मान्यता मिली हुई है। जिसके भय के कारण छात्र में अध्ययन के प्रति अभिरूचि कम तर होती जा रही है और भय का साम्राज्य व्यापक होता जा रहा है। जिससे छात्र में मानसिक कुष्ठा तथा छात्र के अन्तर्मुखी होने जैसी दुर्विशेषतायें सामने आ रही हैं, जो छात्र द्वारा शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधक हो रही है। इस परिप्रेक्ष्य में वैदिक कालीन शिक्षा में छात्र अनुशासन की स्थिति को हम देखने का प्रयास करते है तो कुछ दूसरी ही स्थिति सामने आती है। छात्र में मानसिक तथा शारीरिक अनुशासन कायम रखने हेतु अलग प्रकार के विधान निर्धारित थे। मानसिक अनुशासन हेतु धार्मिक कर्मकाण्ड, सादगी पूर्णजीवन, ध्यान, सन्ध्यावन्दन इत्यादि की व्यवस्थाथी। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी होने की शर्त थी अर्थात् मानसिक अनुशासन कायम रखने हेतु गुरू, गुरूकुल के सम्पूर्ण वातावरण को एक निश्चित प्रकार से नियोजित करता था। जहाँ तक उदण्ड छात्र अथवा विद्याध्ययन के प्रति अरूचि रखने वाले छात्र को जिन दण्डों का प्रावधान किया गया था उसमें शारीरिक यातना का स्थान अत्यन्त गौण था। आप स्तम्ब धर्म सूत्र का कहना है कि छात्र किसी भी दशा में गुरू की अवज्ञा करें तो उसे उपवास का दण्ड देना चाहिए। मनु कहते है कि किसी त्रुटि पर विद्यार्थी को दण्डित करने के स्थान पर अहिंसायुक्त उपदेश तथा मधुर वचन से उसे समझाने का प्रयास करना चाहिये।

अहिंसयैव भूतानां कार्य श्रेयाऽनुशासनम्।

वाक्चैव मधुरा श्लषणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। (मनु,2.159)

इतना ही नहीं शारीरिक दण्ड की स्थिति आने पर भी विद्यार्थी से आश्रम की सफाई तथा गो सेवा जैसे कार्यों में छात्र को लगाया जाता था। इस प्रकार इन दण्ड विधानों में भी मूल्याधारित शिक्षा का संदर्भ था। जैसे उपवास से अंतःकरण की शुद्धि तथा आश्रम सफाई एवं गो सेवा से शिक्षार्थी में सेवा भाव के समारोपण का प्रयास किया जाता था जो एक श्रेष्ठ सामाजिक मूल्य था। आधुनिक शिक्षा में भी छात्र अनुशासन एवं दण्ड विषय पर व्यापक विमर्ष के बाद विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचने लगे है कि विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से छात्र के मानसिक अनुशासन को दृढ़ करनाएवं उसे मित्रवत समझाना शैक्षिक अनुशासान कायम करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास हो सकते हैं। इस आधुनिक चिंतन का आदिम स्रोत कहीं न कहीं वैदिक संहिताओं में खोया जा सकता है।

यद्यपि वेद कालीन शिक्षा का वास्तविक हेतु व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास था तथापि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए भी वैदिक ऋषि चिंतित दिखायी देते है। पराविद्या के प्रति वैदिक व्यवस्थाकार जितने चिन्तित थे उतने ही अपरा विद्या के विस्तार के भी। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा संरचना में मूल्य और नैतिकता के तत्व प्रभावित थे या हम यह कहें कि मूल्य की आधार शिला पर ही विभिन्न शैक्षिक पायदानों को खड़ा किया गया था। यदि हम वेद कालीन व्यावसायिक शिक्षा का संदर्भ ग्रहण करें तो देखते है कि वैदिक संहिताओं में भी 18 प्रकार की शिल्प शिक्षाओं की चर्चा है। मिलिन्दप्रश्न में 'अष्टादश सिप्प' की चर्चा है जिसमें धातु विज्ञान, रथ निर्माण, लौह और काष्ठ शिल्प, स्वर्ण शिल्प, भेषज, मृदभाण्ड निर्माण, इत्यादि का व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि शिक्षा आत्म ज्ञान के साथ-साथ रोजगार प्राप्ति का साधन भी थी। परन्तु यह रोजगार परक शिक्षा भी मूल्य के धागे से आबद्ध

थी। आज की भांति गला काट प्रतियोगिता और आदर्शच्युत होकर भी अपने व्यवसाय को बढ़ाना तथा धनार्जन का उद्देश्य वैदिक कालीन व्यवस्था में नहीं था। यदि आधुनिक कालीन चिकित्सा के क्षेत्र को ही हम उदाहरण स्वरूप ग्रहण करें तो पायेंगे कि इस व्यवसाय से मूल्य और आदर्श कोसो दूर जा चुका है। मानवीय मूल्य भ्रष्टाचार और लूट की चेरी बन गई है। और इसी प्रसंग में प्राचीन युग का स्मरण करें तो बौद्ध ग्रंथों में विवृत जीवक की कथा सहसा प्रासंगिक हो उठती है। इस कथा में यह वर्णन है कि राजगृह के शासक आनन्द को रास्ते में पड़ा हुआ एक शिशु प्राप्त हुआ है जिसे अपने घर लाकर उसका पालन पोषण करने लगा। जिसका नाम जीवक रखा गया। जब जीवक बड़ा हुआ तो उसने राजा से शिक्षार्जन करने का निवेदन किया। जिसके पीछे अब राजा पर आश्रित न रहते हुए स्वयं के सहारे खड़े होने का उद्देश्य भी निहित था। राजा से अनुमति लेकर पहुँचा और वहां विश्वविद्यालय में आयुर्वेद की 'कौमारभृत्य8 शाखा में विशेषज्ञता हासिल किया तदुपरांत वह वापस पाटलिपुत्र की ओर अभिमुख हुआ। रास्ते में आते हुए विभिन्न दीन दुखियों को उसने अपने चिकित्सकीय प्रयोग से रोग रहित किया। जब वह पाटलिपुत्र के शासक बिम्बसार के दरबार में उपस्थित हुआ तो राजा ने उसे राजवैद्य नियुक्त करने का उसके सम्मुख प्रस्ताव रखा। जीवक तैयार हो गया परन्तु बिम्बसार से जो उसने निवेदन किया वह समझना महत्वपूर्ण है– 'जीवक ने कहा– राजन, मैं निश्चित रूप से राज दरबार का वैद्य रहूँगा परन्तु राज दरबार की सीमा से बाहर भी मेरे सामाजिक दायित्व है। यदि कोई भी व्यक्ति अस्वस्थ होता है और उसकी सूचना मुझे होती है उसे तो उसका भी उपचार करना मेरा नैतिक दायित्व होगा। सम्भव है ऐसा करने में कभी मैं राज दरबार का हित सर्वोपरि न रख पाऊँ तो उसे मेरा कर्तव्य समझ कर क्षमा करेंगे क्योंकि जिस चिकित्सा विज्ञान का हमने अध्ययन किया उसका मूल्य ही सर्वजन हिताय है। आज के संदर्भो में भी मूल्य

आधारित व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता है। जिसका बीज रूप ही सही वैदिक संहिताओं में अवश्य प्राप्य है। अतएव वैदिक कालीन मूलय शिक्षा की आधुनिक संदर्भो में संभवतः और अधिक आवश्यकता है।

इसी तरह का प्रश्न आधुनिक कालीन सम्पूर्ण साहित्य अथवा सर्वशिक्षा जैसे अवधारणा से भी है। सामान्यतया वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह सर्वसाधारण की शिक्षा नही थी। आज शिक्षा के प्रति जागरूकता बहुत अधिक बढ़ी है जिसका उदाहरण सर्व शिक्षा जैसे अभियानों में ढूढ़ा जा सकता है। वैदिक कालीन शिक्षा के प्रति यह आरोप बहुत उपयुक्त नहीं है सम्भव है कि सर्वशिक्षा का व्यावहारिक और व्यापक स्वरूप वैदिक काल में न रहा हो लेकिन इसकी उद्भावना अथवा इस अवधारणा का उदय तो वैदिक काल में हो चुका था।

छान्दोग्य उपनिषद जब यह घोषित करता है कि सम्बन्धित राज्य में कोई - भी अशिक्षित नहीं था। अथवा मैत्रायणी संहिता का यह उद्धरण कि राजा के विभिन्न दायित्वों में यह भी एक दायित्व है कि वह इसे सुनिश्चित करें कि उसके राज्य में कोई अशिक्षित न रह जाये अथवा मौर्यकाल का एक अभिलेख मौर्य राज्य में 67% साक्षरता की बात स्वीकार करता है इन उद्धरणों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्राचीन युग में भी सबको सुशिक्षित बनाने की सुचिन्तना थी। शिक्षित जन ही राष्ट्र को आगे बढ़ा सकते है यह कल्पना मन में थी यह अलग बात है कि औपचारिक शिक्षा का बहुत अधिक विस्तार न होने के कारण स्त्री शिक्षा तथा समाज का एक वर्ग इससे दूर अवश्य था लेकिन वैदिक काल में मुख्य शैक्षिक मूल्यों में शिक्षा का विस्तार तथा सबको सुशिक्षित करना बताया गया है। अतएव

सर्वशिक्षा, शिक्षा का एक अनाविल मूल्य है इससे वैदिक आर्य केवल परिचित ही नही था वरन इसके प्रसार के लिए सचेष्ट भी था।

आज शिक्षा की स्वायत्ता की चर्चा बहुत अधिक होती है सम्प्रति एक विवाद का विषय यह भी बना हुआ है कि शिक्षा की जिम्मेदारी राज्य की हो अथवा व्यक्तिगत? इन पहलुओं पर सबके अपने-अपने तर्क है परन्तु यदि वैदिक कालीन संदर्भो में इन प्रश्नों का उत्तर ढूढ़ने का प्रयास किया जाये तो उसकी कुछ झलक वहां अवश्य प्राप्त होती है। शिक्षा के पाठ्यक्रम, शैक्षिक अर्थ व्यवस्था, शिक्षण विधि, गुरुकुलों के तौर तरीके ये सभी कुछ पूर्ण स्वतंत्र थे। राजा का कोई हस्तक्षेप इन शैक्षिक व्यवस्था में नहीं था। आचार्य शिक्षा की योजना रचना में पूर्ण स्वतंत्र था। इतना ही नहीं शैक्षिक संस्थानों के लिए राज्य से जितने भी धन की अपेक्षा आचार्य अथवा शिष्य करता था राज्य को उसे पूरा काल अपेक्षित माना जाता था। इसके अतिरिक्त समाज के आमिजात्य वर्ग के लोग भी शैक्षिक संस्थाओं को अनुदान दिया करते थे परंतु इससे शैक्षिक स्वायत्ता पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप या व्याघात नहीं पहुँचता था। राजा अपनी इच्छा शिष्य अथवा आचार्य पर आरोपित नही कर सकता था। इसी कारण वैदिक कालीन शिक्षा का मूल्य कभी बाधित नहीं हुआ। आज के संदर्भो में वेद कालीन शिक्षा व्यवस्था उन विवादों के लिए एक उत्तर भी है कि शैक्षिक विकास और विस्तार में व्यक्ति का, समाज का, एवंराज्य का तीनों का उत्तरदायित्व है। व्यक्ति या समाज की भागीदारी से उसका व्यवसायीकरण नहीं किया जा सकता बल्कि शिक्षा के स्वायत्त स्वरूप को बरकरार रखते हुए उसके मूल्य को अक्षुण्ण रखा जाय। इसलिए वैदिक कालीन मूल्य शिक्षा के चेतना की आधुनिक संदर्भो में भी किसी न किसी रूप में किन्चित आवश्यकता बनी हुई है।

अध्याय – 8

निष्कर्ष, शैक्षिक निहितार्थ एवम् भावी शोध हेतु सुझाव

वेद कालीन मूल्य और नैतिक शिक्षा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता विषय को उपलब्ध स्रोतों के आधार पर शोधार्थी ने मीमांसित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विभिन्न अध्यायायें के माध्यम से सम्बन्धित विषय में निगूढ़ित प्रश्नों को ढूढ़ने एवं तत्सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन के विभिन्न स्तरों को स्पर्श करने के उपरान्त कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त इस जो निम्नवत है।

वैदिक कालीन मूल्य तथा नैतिक शिक्षा काल बाध्य हो चुकी है, वेदों में तर्कशीलता का अभाव है, वेद ज्ञान वैज्ञानिक नहीं है वेद काल में जीवन मूल्य अभी पूर्ण विकसित नहीं हुए थे, वेद काल में कोई शैक्षिक ढाँचा विकसित नहीं हो पाया था, वैदिक कालीन मूल्य किसी भी रूप में अब प्रासंगिक नहीं हो सकते इत्यादि। ऐसे तमाम प्रश्न इस शोध प्रबन्ध के अपने पूर्ण कलेवर में आने से पहले मेरे मस्तिष्क को झकझोरते थे लेकिन जैसे-2 शोध की प्रक्रिया आगे बढ़ती गयी और स्थितियां स्वतः स्पष्ट होती चली गयी अपने शोध के दौरान मैंने पाया कि उपरोक्त सभी प्रश्न बेमानी है क्योंकि वैदिक कालीन मूल्य तथा नैतिक शिक्षा कभी काध बाध्य हो ही नहीं सकती क्योंकि वैदिक वाड्गम तो शाश्वत मूल्यों के प्रतिष्ठापरक हैं और वेद तर्कना से भी भरपूर है। वैदिक शिक्षा की अथवा वैदिक

व्यवस्था की वैज्ञानिकता पर भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। इसे एक छोटे से उदाहरण से समण जा सकता है कि वैदिक देवता वरूण को नैतिक मान्यताओं के अनुपालन का सबसे बड़ा देवता स्वीकार किया गया और इसके माध्यम से यह संदेश देने का प्रयास किया गया कि जब देवता के लिए भी नैतिक वान होना आवश्यक है तो मानव उस दायरे से बाहर कदापि नहीं हो सकता। आधुनिक युग में भी वेद कालीन मूल्यों की प्रासंगिकता बनी हुई है अतएव इसे प्राचीनतम तथा नवीनतम युग के मध्य एक अविच्छिन्न कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

वेद कालीन मूल्य और धर्म के अर्न्तसम्बन्ध के आधार पर आधुनिक समाज को पुर्नरचित किया जा सकता है। अपने शोध के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म केवल कर्मकाण्ड नहीं था वरन् वह जीवन जीने का एक व्यापक तरीका था जिसमें मानव और मानव के मध्य तथा मानव और प्रकृति के मध्य के सम्बन्ध को संतुलित रखने की क्षमता थी।

जहॉ तक भारतीय पुरूषार्थ व्यवस्था में वर्णित 'अर्थ' का सवम्बन्ध है वह भी मूल्य और नैतिकता की ही परिधि में व्याख्यापित हुआ था। आज की तरह मूल्य हीन अर्थ की तरह कोई स्थान नहीं था। वैदिक ऋषियों ने अर्थ को एक विशिष्ट मूल्य के रूप में देखा तथा उसे धर्म से सुसंगत किया इसलिए अर्थ पूर्ण नैतिक मूल्य के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ।

पुरूषार्थत्रयी की व्याख्या करते हुए हमने अपने अध्ययन में पाया कि आधुनिक समाज 'काम' को मात्र भोग समझता है और उसे व्यक्ति स्वातंत्र्य के

दर्शन से परिपुष्ट करता है। सम्प्रति वैयक्तिक आग्रह इतना प्रभावी है कि वह काम को नैतिक और अनैतिक मानने के विवाद में नहीं पड़ना चाहता परिणाम हमारे समक्ष है – उन्मुक्त कामाचार, अति स्वच्छन्दता बलात्कार इत्यादि। वैदिक कालीन काम की अवधारणा को आधुनिक समाज में भी व्यवस्था प्रदान करने वाले तत्त्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि काम भी धर्म से संचालित था।

वेद कालीन चरम मूल्य के रूप में मोक्ष का दर्शन हमारे समक्ष प्रस्तुत है। अपने शोध क्रम में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मोक्ष वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक था क्योंकि वह समस्त भौतिक विकारों को नियंत्रित करने की शिक्षा देता है तथा सद्‌गुणों को विकसित करने का प्रयास भी करता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति विकारों से ऊपर उठ गया तो सम्पूर्ण समाज स्वतः विकार मुक्त हो जायेगा।

हमने अपने शोध निष्कर्ष में यह भी प्राप्त किया कि वैदिक आश्रम व्यवस्था तथा संस्कार मूल्याधारित थे और इन्हीं संस्कारों के माध्यम से शैक्षिक मूल्यों को भी स्थापित करने का प्रयास किया गया। जैसे विद्यारम्भ स्वयं में एक संस्कार था। गुरु शिष्य सम्बन्ध को भी श्रेष्ठ मूल्यों के दायरे में आबद्ध किया गया था। शिक्षा उद्‌देश्य और आदर्श भी मूल्य की परिधि से बाहर नहीं थे।

वेद कालीन शैक्षिक व्यवस्था का प्रबन्धन जिसमें गुरुकुल, शुल्क संरचना प्रवेश विधि, पाठ्‌यक्रम, शिक्षा प्रणाली सभी कुछ श्रेष्ठ नैतिक आदर्शों और मूल्यों पर आधारित थे। वैदिक शिक्षा व्यवस्था में यदि हम अनुशासन को भी देखे

तो वह भी शारीरिक कम और मानसिक अधिक था। पश्चाताप और उपास जैसे मूल्यगत दण्डों के माध्यम से विद्यार्थी को अनुशासित करने का प्रयास किया जाता था।

शैक्षिक निहितार्थ :

प्रस्तुत विषय के अध्ययन में हमने कुछ शैक्षिक निहितार्थ भी प्राप्त किए हैं जिनकी चर्चा निम्नलिखित बिन्दुओं में की जा सकती है –

1. वैदिक व्यवस्था के आधारभूत शाश्वत मूल्य और नैतिकता के मानदण्ड को यदि आधुनिक सन्दर्भो में लागू किया जाए तो सामाजिक सन्तुलन कायम किया जा सकता है।

2. वेद कालीन मूल्य शिक्षा को आधार बनाकर मनुष्य के द्वारा प्रकृति के दोहन पर भी अंकुश लगाया जा सकता है।

3. मानव कर्तव्य 'सर्वभूत हिताय' में निहित है। यह भाव सामाजिक और राष्ट्रीय एकता के उजमन में परम सहयोगी सिद्ध हो सकता है।

4. वैदिक आश्रम व्यवस्था को कतिपय आधुनिक सन्दर्भो में परिवर्तित कर यदि उसकी वैज्ञानिकता को रेखांकित किया जाय तो मानव, मानव के प्रति अपने कर्तव्य को भली प्रकार समझ सकता है।

5. शिक्षा मात्र रोजगार पैदा करने का साधन नहीं वरन् उसका निहित उद्देश्य संस्कारित मानव का निर्माण है इस वैदिक दर्शन को आज भी बताने की आवश्यकता है।

6. वैदिक शिक्षा का चरम निहितार्थ पुरूषार्थ चतुष्टय की अवधारणा थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सभी मूल्याधारित हैं और व्यक्तिगत न होकर सामाजिक भी है। वैदिक दर्शन के इस निहितार्थ को आधुनिक सन्दर्भो में भी प्रासंगिक बनाया जा सकता है।

7. नैतिकता, समाज, प्रकृति और देवता सभी को नियमित एवं नियंत्रित कराने की व्यवस्था है जिसका प्रकटीकरण ऋत सम्प्रत्यय के रूप में हमारे सामने आपसे वैदिक शिक्षा के इस परम निहितार्थ को अनैतिक होते हुए इस आधुनिक समाज को नैतिक बनाने हेतु आज भी उपयोग में लाया जा सकता है।

8. गुरू और शिष्य के सम्बन्धों के वैदिक आदर्श को आधुनिक युग में भी प्रासंगिक बनाकर शैक्षिक अनुशासन कायम किया जा सकता है।

9. वैदिक कालीन शिक्षा दर्शन में पर्यावरण संरक्षण के भी सू. उपलब्ध हैं जिनका उपयोग आधुनिक सन्दर्भो में भी महत्त्वशील सिद्ध हो बैठता है। पर्यावरण की शिक्षा भी तत्कालीन युग में मूल्य एवं नैतिकता से जुड़ी हुई थी।

10. मूल्य और नैतिकता की शिक्षा एक विषय के रूप में न होकर एकीकृत पाठ्यक्रम के रूप में समस्त शैक्षिक गतिविधियों में दृष्टव्य हो इस वेद कालीन शैक्षिक निहितार्थ को शैक्षिक व्यवस्था की महत्त्व आज भी स्वतः सिद्ध हो।

11. वेद कालीन शिक्षण विधि में मनन का विशेष महत्त्व था जिसकी आवश्यकता आज भी प्रतीत होती है।

12. वैदिक परीक्षा प्रणाली उबाऊ नहीं थी वरन् उसका सम्बन्ध से दैनन्दिन से था आज भी उसी प्रबल आवश्यकता प्रतीत होती है।

13. मूल्यांकन एवं परीक्षण एक सतत् प्रक्रिया के रूप में होना चाहिए, निश्चित आरोपित प्रक्रिया के रूप में नहीं।

14. वैदिक कालीन व्यावसायिक शिक्षा भी धर्म और मूल्य से बंधी थी जिसकी आज सर्वाधिाक आवश्यकता है।

15. शिक्षा व्यक्ति समाज और राज्य सभी का दायित्व है इस वैदिक शिक्षा के निहितार्थ को आज भी लागू करके शिक्षा को बाजारीकरण से मुक्त रखा जा सकता है।

16. राजतंत्र में भी शिक्षा पूर्ण स्वायन्त थी। राजा का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं था। चाहे पाठ्यक्रम हो अथवा शुल्क संरचना। इस शिक्षा के निहितार्थ को आज भी उच्च शिक्षा के स्वरूप और स्वायत्रता से जोड़कर देखा जा सकता है।

भावी शोध हेतु सुझाव :

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय वेद कालीन नैतिक एवं मूल्य शिक्षा की आधुनिक युग में प्रासंगिकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस विषय पर सघन अध्ययन का प्रयास किया गया है। फिर भी विषय के अति विस्तृत होने के कारण कतिपय

तत्त्व इसमें समाहित नहीं किए जा सकते हैं जिस पर भावी शोधार्थी ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं :-

1. इस प्रबन्ध की परिसीमा से इतर उत्तरवैदिक काल में केवल महाकाव्यों के आधार पर (रामायण और महाभारत) महाकाव्य कालीन मूल्य एवम् नैतिक शिक्षा का अध्ययन किया जा सकता है।

2. वैदिक शिक्षा ब्राहमणीय शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत आती है अतएव ब्राहमणेतर कालीन मूल्य एवं नैतिक शिक्षा का अध्ययन भविष्य का विषय हो सकता है।

3. मूल्य से नैतिकता को अलग रखते हुए केवल आर्ष कालीन नैतिक शिक्षा का वर्तमान में महत्त्व विषय पर भी कार्य सम्पादित हो सकता है।

4. भारत में नैतिक शिक्षा मूल्य की सहचरी थी परन्तु यूरोप में नीति का विकास स्वतंत्र रूप में हुआ इसके कारण और परिस्थिति विषय पर भी नवीन शोध हो सकता है।

5. नैतिक शिक्षा और राज्य के अन्तर सम्बन्धों पर भी भविष्य में शोध प्रस्तुत किया जा सकता है।

6. मूल्य और नैतिकता की शिक्षा देने के अत्याधुनिक उपकरण क्या हो सकते हैं जैसे मूल्य की मौखिक शिक्षा, सहभागिता द्वारा मूल्य प्रदर्शन की प्रविधि, संवाद अथवा शास्त्रार्थ द्वारा मूल्य का प्रसार, नित्य मूल्यांकन द्वारा मूल्य प्रतिस्थापना का प्रयास अनुकरण द्वारा मूल्य ग्रहण करने का प्रयास

विभिन्न प्रकार के प्रदर्शनों द्वारा मूल्य प्रतिपादन का प्रयास नए शोध के आयाम हो सकते हैं।

7. साध्य मूल्य 'मोक्ष' केवल व्यक्तिगत लाभ हेतु नहीं था वरन् समाज को प्रशिक्षित करने का एक सर्वश्रेष्ठ मूल्य उपकरण था इस विषय पर भी विषय में शोध प्रस्तुत हो सकता है।
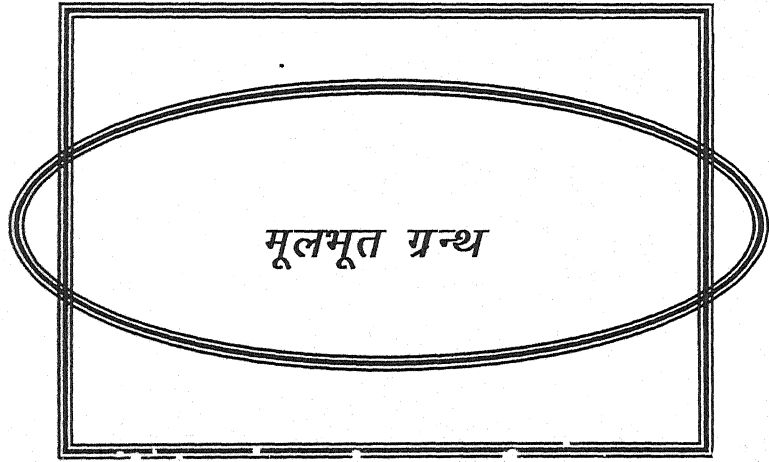
मूलभूत ग्रन्थ

मूलभूत ग्रन्थ सूची

1.	अशोक कुमार	भारतीय दर्शन में मोक्ष, भोपाल : म0 प्र0 हि0 ग्रं0 अकादमी
2.	अथर्ववेद	आर0 रॉय तथा डब्ल्यू0 डी0 ह्विटनी द्वारा संपादित, बर्लिन 1924
3.	अमरकोश	वी0 झलकीकर द्वारा सम्पादित, बम्बई,1907
4.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र	लहस्यनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित, कुम्भकोणम्, 1895
5.	अय्यर, पी0 एस0 एस0	द इबोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियल्स, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, 1976
6.	अर्बन, डब्ल्यू0 एम0,	फण्डामेन्टल्स ऑव इथिक्स, न्यूयार्क, 1930
	अरोड़ा, यू0 पी0	मोटिब्स इन इण्डियन माइथॉलोजी : देयर ग्रीक एण्ड अदर पैरेलल्स, इलाहाबाद, 1982
7.	अल्टेकर, ए0 एस0,	स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, (पुनर्मुद्रित) वाराणसी, 1977
	आर्गन, टी0 डब्लू0	द हिन्दू क्वेस्ट फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, ओहियो, 1970
8.	आत्रेय, बी0 एल0	भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास लखनऊ, 1964

9.	आयंगर, के0वी0आर0	सम आस्पेक्टस ऑव हिन्दू ब्यू ऑव लाइफ एकार्डिंग टू धर्मशास्त्र, बड़ौदा, 1952
10.	आप्टे वामन शिवराम	संस्कृत हिन्दी कोश
11.	अर्बन, डब्ल्यू, सेन्ट	कनफैशन्स, एवरीमैन्स
12.	अरविन्द	दि लाइफ डिवाइन, कलकत्ता, 1939
13.	आश्वलायन गृह्यसूत्र	म0म0 गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, 1923
14.	उत्तरगीता	गौडपाद–भाष्य–सहित – श्रीवानी विलास प्रेस द्वारा सम्पादित श्रीरमन वि0सं0 1926
15.	उपाध्याय दीन दयाल	एकात्म्य मानववाद
16.	उपाध्याय दीन दयाल	भारतीय अर्थनीति, लखनऊ : लोकहित प्रकाशन, 1980
17.	उपाध्याय दीन दयाल एवं ढेंगडी दत्तोपन्त, मा0 स0 गोलबलकर	एकात्म्य मानव दर्शन, 1991
18.	उपाध्याय डा0 रामजी	भारतीय धर्म एवं संस्कृति
19.	ऐतरेय ब्राह्मण	हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
20.	एग्युलर, एच0, एलेक्जेन्डर एस0	द सैक्रीफाइज इन द ऋग्वेद, वाराणसी, 1967
21.	की	एंशियन्ट एण्ड लेटर इण्डियन एजुकेशन, आक्सफोर्ड

22.	कुन्हनराजा, सी0	द वेदाज, वाल्टेयर, 1957
23.	कवीश्वर, जी0 डब्ल्यू0	द इथिक्स ऑव द गीता, दिल्ली 1971
24.	काणे, पी0 वी0	हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द–1–5, पूना 1962–1975
25.	कीथ, ए0 बी0	रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव वेद एण्ड उपनिषद्स, हार्वर्ड, 1925
26.	क्रीथ, ए0 बी0	धर्म इन हिन्दू इथिक्स, कलकत्ता, 1977
27.	कुप्पूस्वामी, बी0	धर्म एण्ढ सोसाइटी, मद्रास, 1977
28.	कात्यायन श्रोतसूत्र	लन्दन, 1855
29.	कौटिल्य अर्थशास्त्र	आर0एन0 शास्त्री द्वारा सम्पादित, मैसूर 1924
30.	कान्ट, आई	क्रिटीक ऑव प्योर रीजन (अनु0 माइकल जॉन), एवरीमैन्स, 1934
		फाउण्डेशन्स ऑव दि मैटाफिजिक्स ऑव मौरल्स (अनु0 बैक), शिकागो, 1955
		क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीजन (अनु0 बैक), शिकागो, 1949
31.	क्रोचे, बेनिडिटो	ईस्थेटिक्स (अनु0 आइन्सली) लन्दन, 1909
32.	गोपथ ब्राह्मण	कलकत्ता, 1872

33. गौतम धर्मसूत्र — हरदत्तं–भाष्य के साथ, हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1910

34. गोतम धर्मसूत्र — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना, 1910

35. छान्दोग्य उपनिषद् — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1913

36. तैत्तिरीय आरण्यक — सायण–भाष्य–संहित – हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1898

37. तैत्तिरीय संहिता — कलकत्ता, 1854

38. नारदस्मृति — यौली द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1885

39. पराशर स्मृति — मध्याचार्य–भाष्य सहित – बाम्बे संस्कृत सीरीज, बम्बई, 1893

40. बृहदारण्यक उपनिषद् शंकराचार्य भाष्य तथा आनन्दगिरि की टीका के साथ हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना 1914

41. बृहस्पति स्मृति — बड़ौदा, 1941

42. बैन्थम, जेरेमी — इन इन्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स एण्ड लेजिस्लेशन (बर्ट सं0 दि इंग्लिश फिलासफर्स, माडर्न लाइब्रेरी जायन्ट)

43. बोसैन्के, बर्नडे — दि वैल्यु एण्ड डेस्टेनी ऑव दि इण्डिविडूअल, मैकमिलन, 1913

44.	बोकिल	ए हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इण्डिया, खण्ड 1 बम्बई 1925
45.	ब्लूमफील्ड, एम0	द रिलिजन ऑव द वेद, दिल्ली, 1972
46.	बनर्जी, एस0. सी0	इण्डियन सोसाइटी इन द महाभारत, वाराणसी 1976
47.	बनर्जी, एन0 वी0	स्पिरिट ऑव इण्डियन फिलासॅफी, दिल्ली, 1974 वैदिक रिलिजन (अं0 अनु0, पूना, 1978
48.	बौधायन धर्मसूत्र	श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर 1907
49.	दास	दि एजुकेशनल सिस्टम आफ ऐन्शियन्ट हिन्दूज, कलकत्ता 1930
50.	वेंकटेश्वरम	इण्डियन कल्चर थ्रू एजेज खण्ड 1 एजुकेशन एण्ड प्रोपगेशन ऑफ कल्चर, मैसूर यूनिवर्सिटी 1928
51.	एस0सी0 दास	इण्डियन पण्डित्स इन दि लैंड आफ स्त्री, कलकत्ता 1893
52.	मनरो	ए टेक्स्ट बुक आफ दि हिस्ट्री आफ एजुकेशन
53.	ग्रेब्स	ए हिस्ट्री आफ एजुकेशन
54.	ओशिया	सोशल डिवलपमेन्ट एण्ड एजुकेशन
55.	नन	एजुकेशन, इट्स डेटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल्स
56.	ऐडान्स रिपोर्टस	रिपोर्ट ऑन वर्नाक्युलर एजुकेशन इन बंगाल 1835–8

57. जे.एम. सेन — हिस्ट्री आफ एलिमेंटरी एजुकेशन इन इण्डिया 1933 कलकत्ता

58. विवक — एसेज ऑन एजुकेशनल रिफार्मेशन्स 1929

59. जूड — इन्ट्रोडक्शन टु साइन्टिफिट स्टडी आफ एजुकेशन

60. मनुरमृति — कुल्लूक भट्ट भाष्य सहित पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि0सं0 1320

61. मनुस्मृति — मेधातिथि – भाष्य सहित गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1932

62. मुकर्जी, राधाकमल — द डेस्टिनी ऑव सिविलाइजेशन, बम्बई, 1964

63. मुकर्जी, राधाकमल — सोशल स्ट्रक्चर ऑव वैल्यूज, दिल्ली, 1965

64. मैकेन्जी, जे0 — हिन्दू इथिक्स, (द्वि0 सं0) दिल्ली, 1971

65. मैकेन्टायर, ए0 — ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इथिक्स, लन्दन, 1974

66. मैकडॉनल, ए0 ए0 — वैदिक माइथॉलोजी, दिल्ली, 1974

67. राधाकृष्णन,एस0 — इण्डियन फिलासॅफी, जिल्द 1–2, लन्दन, 1929–1931

68. राधाकृष्णन,एस0 — द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, लन्दन, 1928

69. राधाकृष्णन,एस0 — रिलिजन एण्ड कल्चर, दिल्ली, 1968

70.	लिलि विलियम	ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इथिक्स, (पुर्नमुद्रित), दिल्ली, 1955
71.	वोरा, डी0पी0	इबोल्यूशन ऑव मॉरल्स इन द इपिक्स, बम्बई, 1966
72.	हिरियन्ना, एम0	एसेन्शियल्स ऑव इण्डियन फिलासॅफी, लन्दन, 1974
73.	हिरियन्ना, एम0	आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलासॅफी, (हि0 अनु0), (द्वि0 सं0) दिल्ली, 1973
74.	हिरियन्ना, एम0	इण्डियन कांसेप्शन ऑव वैल्यूज, मैसूर, 1975
75.	महाभारत	नीलकंठ–भाष्य–सहित–पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द 1826–1830
76.	याज्ञवल्क्य स्मृति	वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1926
77.	शतपथ ब्राह्मण	ए0 बेवर द्वारा सम्पादित, 1926
78.	दयाकृष्ण	माडर्न लॉजिक एण्ड फिलोसफी, नई दिल्ली, 1964
79.	फ्रौन्डिजी, आर0	व्हाट इज वैल्यू (अनु0 सालोमन लिप), ओपनकोर्ट, 1963
80.	Sharma, D.S.	The Renaissance of Hinduism, B.H.U. Varanasi 1944
81.	चटर्जी, पी0वी0	प्रिन्सिपुल्स ऑव इथिक्स, कलकत्ता, 1915
82.	चन्द्रावकर, जी0ए0	मैनुअल ऑव हिन्दू इथिक्स (तृ0 सं0) पूना, 1925
83.	चेन्नकेशवन एस0	कांसेप्ट्स ऑव इण्डियन फ़िलासॅफी, दिल्ली, 1976

84.	आयसवाल, के0पी0	हिन्दू पालिटी, (तृ0 सं0) बंगलोर, 1955
85.	दासगुप्त, सुरमा	डेवलपमेन्ट ऑव मॉरल फिलासॅफी इन इण्डिया, बम्बई, 1978
86.	पाण्डेय एस0एल0	ज्ञान, मूल्य और सत् साहित्यवाणी इलाहाबाद 1973
87.	पाण्डेय एस0एल0	द मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑव कल्चर, आगरा, 1972
88.	पाण्डेय एस0एल0	भारतीय परम्परा के मूल स्वर, दिल्ली, 1981
89.	पाण्डेय एस0एल0	फाउन्डेशन ऑव इण्डियन कल्चर, जिल्द–1–2, दिल्ली, 1984
90.	पाण्डेय एस0एल0	ऐन एप्रोच टू इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, वाराणसी, 1985
91.	पाण्डेय, राजबली	भारतीय नीति का विकास, पटना, 1965

जर्नल्स, पीरियाडिकल्स तथा रिपोर्ट्स आदि

1. आवर हेरिटेज
2. इण्डियन कल्चर
3. इथिक्स
4. कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशलॉजी
5. जर्नल ऑव आइडियाज
6. जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री

7. जर्नल ऑव गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

8. परामर्श

9. पुराणम्

10. प्राची ज्योति

11. प्राच्य–प्रतिभा

12. फिलासॅफी : ईस्ट एण्ड वेस्ट

13. भारती – बुलेटिन ऑव इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर

14. भारतीय विद्या

15. स्टडीज इन कम्परेटिव हिस्ट्री एण्ड रिलिजन

16. हिन्दुत्व

17. हिस्ट्री ऑव रिलिजन